जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १५ वीर किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी., डी. लिट
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल
पं० के० भुजबली शास्त्री विद्याभूषण
पं० नेमिचन्द्र जैन ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न

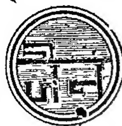
जैन सिद्धान्त भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) इस प्रति का १॥)

विषय सूची।

—— :o: ——

श्रीजिनाय नमः



अनेकान्त

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १४ } जनवरी १९४८। पौष, वीर नि० सं० २४७३

ग्वालियर में जैन पुरातत्त्व

[-ले० श्रीयुत प० परमानन्द-शास्त्री]

---o---

भारतीय इतिहास में ग्वालियर का स्थान महत्त्वपूर्ण है, वहाँ प्राचीन अवशेषों की कमी नहीं है, उसके प्रसिद्ध सूर्यो और किलो में इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है। ग्वालियर का यह किला पहाड़ की एक चट्टान पर स्थित है। कहा जाता है कि इसे सूरजसेन नाम के राजा ने बनवाया था, वहाँ ग्वालिय नाम का एक साधु रहता था जिसने राजा सूरजसेन के कुष्ठ रोग को दूर किया था। अत उसकी स्मृति में ही ग्वालियर नाम प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ग्वालियर के इस किले का अस्तित्व विक्रम की छठी शताब्दी मे था, क्योंकि ग्वालियर की पहाड़ी पर स्थित 'मात्रिचेता' द्वारा निर्मापित सूर्यमन्दिर के शिलालेख में उक्त दुर्ग का उल्लेख पाया जाता है। दूसरे किले में स्थित चतुर्भुज मन्दिर के वि० स० ९३२-३३ के दो शिलावाक्यों में भी उक्त दुर्ग का समुल्लेख है। हाँ, शिलालेखों से इस बात का पता जरूर चलता है कि उत्तर भारत के प्रतिहार राजा मिहिरभोज ने जीत कर इसे अपने राज्य कन्नौज में शामिल कर लिया था और उसे विक्रम की ११ वीं शताब्दी के प्रारंभ में कच्छप या कछवाहा वंश के वज्रदामन नाम के राजा ने कन्नौज के प्रतिहारवंशी राजा से ग्वालियर को जीत कर अपना अधिकार कर लिया था। इस वंश ने ग्वालियर पर लगभग दो सौ वर्ष तक अपना शासन किया है, किन्तु बाद में पुन प्रतिहारवंश की द्वितीय शाखा के राजाओं का उस, पर अधिकार हो गया था, परन्तु वि० स० १२४९ में दिल्ली के शासक अल्तमस ने ग्वालियर पर घेरा डालकर दुर्ग का विनाश किया, उस समय राजपूतों की शक्ति कुछ क्षीण हो चुकी थी, घोर संग्राम हुआ और राजपूतों ने अपने शौर्य का पूरा परिचय दिया, परन्तु मुट्ठी भर

राजपूत उस विशाल सेना से कब तक लोहा लेते, आखिर राजपूतों ने अपनी आन की रक्षा के हित युद्ध में मर जाना ही श्रेष्ठ समझा, और राजपूतनियों ने 'जौहर' द्वारा अपने सतीत्व का परिचय दिया—वे अग्नि की विशाल ज्वाला में जल कर भस्म हो गईं—और राजपूत अपनी वीरता का परिचय देते हुए वीरगति को प्राप्त हुए और किले पर अल्तमस का अधिकार हो गया।

सन् १३९८ (वि० सं० १४५५) में तैमूरलंग ने भारत पर आक्रमण किया, तब अवसर पाकर तोमरवंशी वीरसिंह नाम के एक सरदार ने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया और वह उक्त वंश के आधीन सन् १५३६ (वि० सं० १५९३) तक रहा। इसके बाद उक्त दुर्ग पर इब्राहीमलोदी का अधिकार हो गया, मुसलमानों ने अपने शासन काल में उक्त किले को कैदखाना ही बनाकर रक्खा। पश्चात् दुर्ग पर मुगलों का अधिकार हो गया. और अनन्तर जब बाबर उस दुर्ग को देखने के लिये गया, तब उसने उरवाही द्वार के दोनों ओर चट्टानों पर उत्कीर्ण हुईं नग्न जैन मूर्तियों के विनाश करने की आज्ञा दे दी थी—उसका यह कार्य कितना नृशंस एवं घृणापूर्ण था, इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं।

सन् १८११ में दुर्ग पर मराठों का अधिकार हो गया, और तब से वहाँ पर उन्हीं का शासन चल रहा है। यह किला कला की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। किले में कई जगह जैन मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। इस किले में से शहर के लिये एक सड़क जाती है, इस सड़क के किनारे दोनों ओर विशाल चट्टानों पर उत्कीर्ण हुई कुछ जैन मूर्तियाँ अंकित है, ये सब मूर्तियाँ पाषाणों की कर्कश चट्टानों को खोद कर बनाई गई हैं। इन मूर्त्तियों में भगवान् आदिनाथ की मूर्ति सब से विशाल है, उसके पैरों की लम्बाई नौ फीट है और इस तरह यह पैरों से पाँच-छह गुणी ऊँची है। मूर्त्ति की कुल ऊँचाई ५७ फीट से कम नहीं है। मुनि शीलविजय और सौभाग्यविजय ने अपनी तीर्थमाला में इस मूर्ति का प्रमाण बावन गज बतलाया है[1], जो किसी तरह भी संभव नहीं है, और बाबर ने अपने आत्म-चरित में इस मूर्ति को करीब ४० फीट ऊँची लिखा है[2], जो ठीक नहीं है, साथही, उसमें उन मूर्त्तियों के खंडित कराने का आदेश भी निहित है। यद्यपि अधिकांश मूर्तियाँ खंडित करा दी गई है, फिर भी उनमें की अधिकांश मूर्तियाँ अखण्डित मौजूद हैं। किले से निकलते ही उरवाही द्वार की भगवान् आदिनाथ की उस विशाल मूर्ति का दर्शन कर के

१ "बावन गज प्रतिमा दीसती, गढ़ गुवालेरि सदा सोभती" ॥३॥

शीलविजय तीर्थमाला, पृ० १११।

"गढ़ ग्वालेर बावन गज प्रतिमा वंदू ऋषभ रंगरोली जो ॥" १४-२॥

—सौभाग्यविजय तीर्थमाला पृ० १८।

२ देखें—बाबर का आत्म चरित। इसमें उक्त मूर्ति का प्रमाण ४० फीट लिखा है जो किसी गलती का परिणाम जान पड़ता है।

दर्शक का चित्त इतना आकृष्ट हो जाता है कि वह कुछ समय के लिये सब कुछ भूल जाता है और उस मूर्ति की ओर एकटक निर्निमेष देखते हुए भी तबियत नहीं हटती। सचमुच में यह मूर्ति बहुत ही सुन्दर, कलात्मक और शान्ति का पुंज है। इसके दर्शन से ही परम शान्ति का स्रोत बहने लगता है। यद्यपि भारत में जैनियों की इस प्रकार की और भी कई प्राचीन मूर्तियाँ विद्यमान हैं। उदाहरण के लिये श्रवणबेलगोला की बाहुबली स्वामी की उस विशाल मूर्ति को ही ले लीजिये, वह कितनी आकर्षक, सुन्दर और मनमोहक है, इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं। एक बार टाटा कम्पनी का प्रसिद्ध व्यापारी टाटा अपने कई अंग्रेज मित्रों के साथ दक्षिण की उस मूर्ति को देखने के लिये गया, ज्योंही वह मूर्ति के समीप पहुंचा और उसे देखने लगा, तो मूर्ति को देखते ही समाधिस्थ हो गया, और वह समाधि में इतना तल्लीन हो गया कि मानों वह पाषाण के रूप में स्थित है, तब उसके साथी अंग्रेज मित्रों ने उसे निश्चेष्ट खड़ा हुआ देख कर कहा कि मिस्टर टाटा तुम्हें क्या हो गया है जो हमलोगों से बात भी नहीं करते, चलो अब वापिस चलें, परन्तु टाटा व्यापारी उस समय समाधि में लीन था, मित्रों की बात का कौन जवाब देता, जब उसकी समाधि नहीं खुली तब उन्हें चिन्ता होने लगी, किन्तु आध घण्टा व्यतीत होते ही समाधि खुल गई और उसने यह भावना व्यक्त की कि मुझे किसी चीज की आवश्यकता नहीं है, किन्तु मरते समय इस मूर्ति का दर्शन हो। इससे पाठक जैन मूर्तियों की उपयोगिता का अन्दाज लगा सकते हैं। ये मूर्तियाँ वैराग्योत्पादक और शान्ति की अग्रदूत हैं। इनकी पूजा वंदना करने से जीव परम शांति का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार की कलात्मक मूर्तियों का निर्माण करने वाले शिल्पियों की अटूट साधना, अतुलित धैर्य और कला की चतुराई की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। इसी प्रकार की मूर्तियाँ भगवान् नेमिनाथ और भगवान् महावीर की हैं।

इन सब मूर्तियों का निर्माण ग्वालियर के तोमरवंशी राजा डूंगरसिंह और उनके पुत्र कीर्तिसिंह या करणसिंह के राज्यकाल में हुआ है, ये तोमर वंश के प्रसिद्ध शासक थे, इनकी जैनधर्म पर बड़ी आस्था थी, और तत्कालीन भ० गुणकीर्ति आदि के प्रभाव से प्रभावित थे। इनके राज्य में वहाँ जैनधर्म ने खूब समृद्धि पाई। राजा डूंगरसिंह और कीर्तिसिंह का राज्यकाल वि० सं० १४८१ से वि० सं० १५३६ तक सुनिश्चित है। जैन मूर्तियों की खुदाई का कार्य राजा डूंगरसिंह ने शुरू किया था, वह उसे अपने जीवन काल में पूरा नहीं कर सका, तब उसे उसके पुत्र कीर्तिसिंह ने पूरा कराया था। जैन-मूर्तियों की खुदाई का यह कार्य ३३ वर्ष पर्यन्त चला है, इतने लम्बे अर्से में सैकड़ों मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुई हैं और उनपर सहस्रों रुपये व्यय किये गये हैं। यद्यपि ग्वालियर में जैनाचार्यों, मुनियों, भट्टारकों और विद्वानों का सतत समागम रहा है उनकी निस्पृहता एवं निरीहता, त्याग और तपश्चर्या तथा अहिंसा और सत्य की निष्ठा का महत्व वहाँ की

जनता में व्याप्त था और उससे जैन संस्कृति के प्रचार में बड़ी मदद मिली है। वहाँ के पुरातत्त्व की विपुल सामग्री को देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि ग्वालियर में जैन शासन का प्रचार एवं प्रसार प्राचीन समय से रहा है। इसकी पुष्टि दूबकुण्ड वाले वि० सं० ११४५ के उस शिलावाक्य से होती है जो बहुत ही महत्वपूर्ण है, और उससे वि० की १२ वीं सदी में जैनाचार्यों के विहार और धर्मोपदेश आदि का कितना ही परिचय मिल जाता है।

शिलालेख में महत्व की बात तो यह है कि ग्वालियर में कच्छप वंश के शासकों के समय में भी वहाँ जैन मंदिर मौजूद थे और नूतन मन्दिरों का भी निर्माण हुआ था, साथ ही शिलालेख में उल्लिखित लाडवागड गणके देवसेन, कुलभूषण, दुर्लभसेन, अंबरसेन और शान्तिषेण इन पाँच दिगम्बर जैनाचार्यों का समुल्लेख पाया जाता है जो उक्त प्रशस्ति के लेखक एवं शांतिषेण के शिष्य विजयकीर्ति से पूर्ववर्ती हैं। यदि इन पाँचों का समय १२५ वर्ष भी मान लिया जाय, जो अधिक नहीं है तो उसे ११४५ में से घटाने पर देवसेन का समय १०२०-के करीब आयगा। ये देवसेन अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् थे।

ग्वालियर में भट्टारकों की प्राचीन गद्दी रही है, और उसमें देवसेन, विमलसेन, भावसेन, सहस्रकीर्ति, गुणकीर्ति, यशःकीर्ति, मलयकीर्ति और गुणभद्रादि नाम के अनेक भट्टारक हुए है। इनमें से भ० यशःकीर्ति और गुणभद्र ने विविध ग्रंथों की रचना भी की है। और इनके समय में कवि रइधू ने भी विविध ग्रंथों का निर्माण किया है। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि विक्रम की १५ वीं १६ वीं शताब्दी में ग्वालियर में जैन शासन का बड़ा प्रचार था, वहाँ के श्रावक जनों में धार्मिक प्रेम और परोपकार की वृत्ति पाई जाती थी।

ग्वालियर स्टेट के वर्तमान क्षेत्र में भेलसा, (विदिशा) उदयगिरि, पद्मावती (पवाया) कुंतलपुर[1] (कोतवाल), मदसौर[2] (दशपुर), अवन्ति (उज्जैन), चंदेरी और नरवर आदि नगरों में बौद्ध और हिन्दुओं के प्राचीन पुरातत्त्व अवशेषों के साथ जैनियों के पुरातत्त्व के अवशेष भी उपलब्ध होते हैं यद्यपि जैनियों के पुरातत्त्व के सम्बन्ध में कोई विशेष अन्वेषण नहीं किया गया और न जैनमूर्तियों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी ही प्राप्त की गई, जिसके किये जाने की खास जरूरत है। फिर भी, गुप्तकालीन दो दिगम्बर मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं,

१ पद्मावती (पवाया) और कुंतलपुर (कोतवाल) ये दोनों नगर नाग राजाओं की राजधानी रहे हैं। पद्मावती नगरी से ही पद्मावती पुरवालों का निकास हुआ है। इस नगरी की महत्ता का उल्लेख खजराहे के वि० सं० १०५२ के शिलालेख में किया गया है।

२ यह दशपुर (मंदसौर) वही प्राचीन नगर है जहाँ पर विक्रम की दूसरी, तीसरी शताब्दी के प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य समन्तभद्र ने वाद भेरी बजाई थी। जैसा कि—'दशपुरनगरे भेरी मया ताडिता' वाक्य से प्रकट है। इससे यह स्पष्ट है कि दशपुर नगर में जिसे वर्तमान में मंदसौर कहते हैं जैन विद्वानों का प्रभुत्व रहा है, वहाँ आज भी जैनमन्दिर व शास्त्रभंडार पाया जाता है।

जिनमें एक मूर्ति बेसनगर से प्राप्त हुई थी, जो इस समय ग्वालियर किले के गूजरी महल के सग्रहालय में विद्यमान है। यह मूर्ति लगभग ७ फीट की ऊँचाई को लिये हुए है जो बड़ी ही सुन्दर तथा चित्ताकर्षक है[३]। और दूसरी उदयगिरि गुफा की है, जो अब खडित रूप में है—केवल फणमात्र अवशिष्ट रह गया है[४]। यह जैनियों के तेईसवें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ की भव्य मूर्ति थी।

जैन मूर्तियाँ ग्वालियर किले के अतिरिक्त नरवर और चदेरी के किले में भी पाई जाती हैं, जिसमें नरवर के किले में वे नष्ट कर दी गई हैं। चदेरी के किले में जो मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं वे विक्रम की १२ वीं १३ वीं शताब्दी की हैं। यदि जैन समाज ग्वालियर स्टेट में जैन पुरातत्त्व के अन्वेषण का कार्य प्रारम करें, जो भारी अर्थव्यय को लिये हुए है, तब तो वहाँ उसे अन्य स्थानों की अपेक्षा मूल्यवान जैन पुरातत्त्व के मिलने की सभावना है। यदि समग्र ग्वालियर के मूर्तिलेखों का ही सग्रह किया जाय तो उससे भी अनेक ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाया जा सकता है। क्या जैन समाज इधर ध्यान देगा।

कतिपय जैन मन्दिर व मूर्ति निर्मापकों के समुल्लेख

(१) वर्तमान दूबकुड (चडोभ) के उक्त शिलालेख में, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है, मुनि विजयकीर्ति के उपदेश से जैसवाल वशी श्रावक दाहड, कूकेक, सूर्पट, देवधर और महीचन्द्र आदि चतुर श्रावकों ने वि० स० ११४५ में विशाल जैन मंदिर का निर्माण कराया था और जिसके पूजा, सरक्षण एव जीर्णोद्धार आदि कार्यों के लिये कच्छपवशी राजा विक्रमसिंह ने महाचक्र ग्राम में कुछ जमीन आदि भी प्रदान की थी[1]।

(२) जैसवालवशी कुशराज ने, जो तोमरवशी राजा वीरमदेव के महामात्य थे भगवान् चन्द्रप्रभ का एक चैत्यालय बनवाया था। और पद्मनाभ नाम के कायस्थ विद्वान से 'यशोधर चरित्र या दयासुन्दर' नाम का काव्य भी बनवाया था, जिसे पद्मनाभ ने महामुनि गुणकीर्ति के उपदेश से पूर्व सूत्रानुसार रचा था[२]।

---

३ देखो, विक्रमस्मृति ग्रथ पृ० ७०४।

४ देखो, फ्लीट गुप्त अभिलेख पृ० २५८।

1 See Epigraphica India Val 11 P 237

२ ज्ञाता श्रीकुशराज एव सकलक्ष्मापालचूडामणि,
श्रीमत्तोमरवीरमस्य विदितो विश्वासपात्रं महान्।
मंत्री मत्रविचक्षण क्षणमय क्षीणारि पक्ष क्षणात्,
क्षोण्यामीक्षणरक्षणक्षममति जैनेन्द्रपूजारत ॥
स्वर्गस्पर्द्धि समृद्धिकोऽतिविमलश्चैत्यालय: कारितो,
लोकानां हृदयगमो बहुधनैश्चन्द्रप्रभस्य प्रभो.।

(३) अग्रवाल कुलावतंश, संसार शरीर भोगों से उदासीन, धर्मध्यान से संतृप्त, शास्त्रों के अर्थ रूपी रत्नसमूह से भूषित तथा एकादश प्रतिमाओं के संपालक खेल्हा नाम के ब्रह्मचारी श्रावक ने चन्द्रप्रभ भगवान की विशाल मूर्ति का निर्माण ग्वालियर में करवाया था[१]।

(४) साहू खेमसिंह के पुत्र कमलसिंह ने, दुर्गति की नाशक, मिथ्यात्व रूपी गिरीन्द्र को विनष्ट करने के लिये वज्र के समान, और रोग, शोक आदि दुःखों की नाशक भगवान् आदिनाथ की ग्यारह हाथ ऊँची एक विशाल मूर्ति का निर्माण कराया था और उसकी प्रतिष्ठा भी करवाई थी[२]।

(५) वि० सं० १५२१ में साहू पद्मसिंह ने महाकवि पुष्पदन्त का आदिपुराण लिखवाया था, उसमें ग्रंथ लिखाकर दान देनेवाले की दातृप्रशस्ति में पद्मसिंह के परिवार का परिचय कराते हुए लिखा है कि—पद्मसिंह ने एक लाख ग्रंथ लिखवाये थे और चौबीस जिनालय (जिनमंदिर) भी बनवाए थे, जैसा कि उक्त प्रशस्ति[३] की निम्न पंक्तियों से प्रकट है :—

ये नैतत्समकालमेव रुचिरं भव्यं च काव्यं तथा,
साधु श्रीकुशराजकेन सुधिया कीर्तिश्चिरस्थापकम् ॥
× × × ×
उपदेशे न ग्रंथोऽयं गुणकीर्तिमहामुनेः ।
कायस्थपद्मनाभेन रचितः पूर्वसूत्रतः ॥
—यशोधरचरित्रप्रशस्ति ।

१ तातम्मि खणि बंभवय-भार-भरेण, सिरिअयरवालंक वंसम्मि सारेण ।
संसार-तणु-भोय-णिविण्ण चित्तेण, वर धम्मझाणामयेणेवतित्तेण ।
खेल्हाहिहाणेण णमिऊण गुरुतेण, जसकित्ति विणयस्तु संढिय गुणोहेण ।
भो ममदाण दावग्गिउल्हवण वण दाण, संसार-जलरासि-उत्तार-वर जाण ॥
तुम्हं पसाएण भव-दुह कयंतस्स, ससिपहजिणेंदस्स पडिमा विसुद्धस्स ।
काराविया मइं जि गोवाहले तुंग, उडुचावि णामेण तित्थम्मि सुहसंग ।
—सम्मइजिनचरिउ प्रशस्ति ।

२ जो देवाहि देव तित्थंकरु, आइणाह तित्थेस सुहंकरु ।
तहु पडिमा दुग्गइ णिण्णासणि, जामिच्छत्त गिरिंद सरासणि ।
जो पुण भव्वह सुह गइ सासणि, जामहि रोय-सोय-दुह णासणि ।
सा एयारह कर अविहंगि, काराविय णिरूवम अइ तुंगी ।
अगणिय अणपडिम को लक्खइ, सुरगुरुताह गण ण जइ अक्खइ ।
करि विपयट्ठ तिलउ पुण दिण्णउ, चिरु भवि पविहिउ कलिमलु छिण्णउ ।
चउविह संघहं विणय पयासिउ, वज्जु सयलु जासिद्धु सुहासिउ ।
—सम्मतगुणनिधान प्रशस्ति ।

३ देखें, जैन साहित्य संशोधक खण्ड २ अंक १ पृ० ८०

"एयाहि मज्झि सिरि पोमसिंह, जिण सासण णदण वण सुसिंहु ।
निज्जुल चचल लच्छी सहाउ, आलोइवि हुउ जिणधम्म भार ॥
जिणगथ लिहाविउ लक्ख एक्कु, सावण लक्खाहारावि रिक्कु ।
मुणि भोयणु भुजाविय सहासु, चउवीस जिणालउ किउ सुभासु ॥

ये पद्मसिंह ग्वालियर के निवासी थे, और देव शास्त्र गुरु के भक्त थे और विपुल धनादि से सम्पन्न थे। इस समुल्लेख पर से स्पष्ट है कि १६ वीं शताब्दि में भी वहाँ जैनधर्म का विशेष प्रचार था।

(६) भ० गुणभद्र ने सघवइ (सघपति) उद्धरण के जिनालय में ठहर कर लब्धि-विधान कथा की रचना साहु सारगदेव के पुत्र देवदास की प्रेरणा से की थी[१]। जिससे स्पष्ट है कि सघपति उद्धरण ने जिनमंदिर भी बनवाया था।

ग्रन्थ रचना के कतिपय उल्लेख

विक्रम की १५ वी और १७ वीं शताब्दी में भ० यश कीर्ति, कवि रइधू, भ० गुण-भद्र, कवि तेजपाल, कवि पद्मनाभ कायस्थ, कवि परिमल और कवि ब्रह्मगुलाल ने, जो ग्वालियर के भट्टारक जगभूषण के शिष्य थे, त्रेपनक्रिया, और कृपण जगावन आदि कितने ही ग्रथों की रचना स० १६६५ और १६७१ के मध्य में की है।

(१) विक्रम की १५ वीं शताब्दी के उपान्त्य समय में भ० यश कीर्ति ने वि० स० १४९७ वे में पाण्डव पुराण और स० १५०० में हरिवश पुराण की रचना की है। तथा जिनरात्रि कथा और रविव्रत कथा भी इन्हीं की बनाई हुई है। और चन्द्रप्रभ चरित भी इनका बनाया हुआ कहा जाता है। स्वयभूदेव के हरिवशपुराण की जीर्ण-शीर्ण प्रति प्राप्त हुई थी जिसका समुद्धार भी इन्होंने किया था। यह भ० गुणकीर्ति के लघुभ्राता और शिष्य थे[२]।

(२) कवि रइधू ने, जो हरिसिंह सघवी के पुत्र थे। इनकी जाति पद्मावतीपुरवाल थी। इन्होंने भ० यश कीर्ति के प्रसाद से अनेक ग्रथों की रचना वि० स० १४९२ से लेकर स० १५२१ से पूर्व की है। इनकी अभी तक २३ कृतियों का पता चला है जिनमें १८ रचनाओं को मैंने देखा है, दो रचनाएँ और भी उपलब्ध हैं पर वे अभी तक मेरे देखने में नहीं आई। शेष तीन कृतियाँ अभी अप्राप्य हैं, जिनके अन्वेषण होने की जरूरत है। रइधू और उनकी कृतियों का परिचय 'वर्णी अभिनन्दन' ग्रथ में प्रकाशित मेरे लेख में देखना चाहिये।

१ देखें, लब्धि विधानकथा प्रशस्ति।
२ भ० यश कीर्ति और उनकी रचनाओं के परिचय के लिये देखें, जैन सिद्धांत-भास्कर भाग ११ कि० २ में प्रकाशित 'भट्टारक यश कीर्ति' नाम का मेरा लेख।

(३) भ० गुणभद्र ने, जो भ० मलयकीर्ति के शिष्य थे, इन्होंने अपभ्रंश भाषा में छोटी छोटी १५ कथाओं की सृष्टि की है। इनका समय वि० की १६ वीं शताब्दी है।

(४) कवि तेजपाल ने, संभवनाथ चरित की रचना भी अपभ्रंश भाषा में की है और ग्रंथप्रशस्ति में भ० गुणकीर्ति, यशःकीर्ति, मलयकीर्ति और गुणभद्र का उल्लेख किया है। ब्रह्मगुल्हल का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

(५) कवि परिमल ने सं० १६५१ में, जो ग्वालियर के निवासी थे, आगरे में आकर श्रीपाल चरित की रचना की है। इसके सिवाय और भी कितने ग्रंथों का वहाँ निर्माण हुआ है, जिनके सम्बन्ध में मेरा अन्वेषणकार्य चालू है, प्राप्त होने पर उनका परिचय भी कराने का प्रयत्न किया जावेगा।

इसके अतिरिक्त ग्रंथों की अनेक प्रतिलिपियाँ वहाँ की गई हैं जिनमें पद्मसिंह के द्वारा एक लक्ष ग्रन्थ लिखवाने का उल्लेख किया जा चुका है। उसके सिवाय और भी बहुत-से ग्रन्थ समय समय पर लिखवाये गये है। वि० १४८६ में भ० यशःकीर्ति ने डूंगरसिंह के राज्य काल में कवि श्रीधर का सुकमालचरित और विबुध श्रीधर के संस्कृत भविष्यदत्त चरित की प्रतिलिपि अपने ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयार्थ करवाई थी। सं० १५२१ में ज्ञानार्णव और महाकवि पुष्पदन्त के आदिपुराण की प्रतिलिपि भी कराई गई है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ की गई है। ग्वालियर के स्वयं भट्टारकीय शास्त्रभंडार में सहस्रों ग्रन्थ हैं जिनकी प्रतिलिपियाँ भी प्रायः वहाँ हुई हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के साहित्य में भी अनेक उल्लेख ग्रन्थ रचना, मंदिर और मूर्ति-निर्माण के होंगे, जिनका मुझे परिचय नहीं है।

इस तरह ग्वालियर में जैन पुरातत्त्व का यह संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यदि वहाँ के दिगम्बर, श्वेताम्बर सभी जैन पुरातत्त्व का संकलन किया जाय, जिसके किये जाने की महती आवश्यकता है तो उससे वहाँ विपुल ऐतिहासिक महत्वपूर्ण सामग्री के मिलने की संभावना है।

—०—

विश्व इतिहास और भूगोल के लिये जैन-साहित्य की महत्ता

(४)

[ले०—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, D L M R A S]

(क्रमागत)

गताङ्क में विद्याधर वंश की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डाला गया है, जिससे स्पष्ट है कि इस वंश के आदि पुरुष भारतवर्ष के ही मूल निवासी थे, यद्यपि वे राजशासन सम्बन्ध में वैताढ्य पर्वत पर जा रहे थे। कालान्तर में उनके अनेक वंश चारों ओर फैलगये थे। उनमें ही राक्षस और वानरवंशी विद्याधर नरेश हुए थे, किन्तु गलती से दूसरे लोग इन विशिष्ट मानवों को साक्षात् राक्षस और बन्दर समझते हैं। अतः राक्षसवंश और उनके निवास स्थान के विषय में लिखना उपयुक्त है, जिससे जैन साहित्य का महत्व स्पष्ट होगा।

राक्षस आदि विद्याधर वंश और उनकी भौगोलिक स्थिति

श्री रविषेणाचार्य कृत 'पद्मपुराण' में राक्षस और वानरवंशों का वर्णन मिलता है। रावण और हनुमान इन्हीं राजवंशों के नर रत्न थे। 'पद्मपुराण' से स्पष्ट है कि दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ के समय में विजयार्द्ध की दक्षिण श्रेणी के चक्रवाल नगर के राजा पूर्णधन को विहायोतिलक नगर के राजा सहस्रनयन ने सम्राट् सगर की सहायता से हरा दिया था। पूर्णधन का पुत्र मेघवाहन भागकर भ० अजितनाथ की शरण में पहुंचा। समवशरण में राक्षस देवों के इन्द्र उससे प्रसन्न हुए और उसे लवण समुद्र के राक्षसद्वीप का राजा बना दिया। मेघवाहन का पुत्र महारक्ष उसके पश्चात्—उसके जैनमुनि हो जाने पर राजा हुआ और उसकी सन्तान उस द्वीप पर नगवर राज्य करती रही। इन राजाओं में एक राजा राक्षस नाम का बड़ा पराक्रमी हुआ। उसीके कारण यह विद्याधर वंश 'राक्षस' कहलाने लगा था। राक्षस के पुत्र कीर्तिधवल को मेघपुर के विद्याधर नरेश श्रीकंठ की पुत्री ब्याही थी। एक संग्राम में श्रीकंठ अपने राज्य से हाथ धो बैठा था। इसलिये कीर्तिधवल ने उसे लंका से उत्तर भाग तीन सौ योजन समुद्र के मध्य वानर द्वीप का शासनाधिकारी बनाया। उस द्वीप में वानर मनुष्यों के समान क्रीड़ा करते थे अर्थात् उसमें वनमानस रहते थे। श्रीकंठ ने उन वनमानसों को पाला और वहीं किहुकंद पर्वत पर किहुकंद नगर बसाया। इसके उत्तराधिकारियों में एक अमरप्रभ राजा हुआ, जिसने अपनी ध्वजा में 'वानर' का चिन्ह रखना प्रारंभ किया। इसी कारण वह 'वानरवंशी' नाम से प्रसिद्ध हो गया। यह लोग मुकुटवाले विद्याधर राजा थे। बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के समय में विद्याधरों में इन्द्र नाम का राजा महापराक्रमी हुआ। इसने सब ही विद्याधर राजाओं को अपने आधीन

करके उन्हें संगठित बनाया और उनका संगठन देवलोक की शाश्वतरचना के अनुरूप किया; देवों में जितने भेद हैं, वे सब उसने यहाँ विद्याधर राजाओं में निश्चित किये। इस अनुरूप ही सुर, असुर, नाग, यक्ष, राक्षस आदि भेद गणाओं में मिलते हैं। राक्षसद्वीप अथवा लंका और पाताललंका का पराक्रमी राजा रावण हुआ, जो अहिंसाधर्म का अनुयायी था और जिसने पशुयज्ञों का अन्त किया था। सीता-अपहरण के कारण उसकी सच्चरित्रता पर काला धब्बा लगा था। इस प्रकार राक्षस और वानरवंशी राजाओं की उत्पत्ति उनको मानव घोषित करती है।

हिन्दू पुराणकारों ने भी राजा इन्द्र का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार इन्द्र की राजधानी और उद्यान आदि उत्तरीय ध्रुव प्रदेश में थे। वहाँ पर ही इन्द्र ने स्वर्गादि की कल्पना की थी।[1] किन्तु गलती से उपरान्तकालीन लेखकों ने इन्द्र और उनके देवनाम-धारी सामन्तों को वस्तुतः देवयोनि का समझ लिया। वास्तव में वह विद्याधर राजा थे। इस समीकरण को दृष्टि में रखने पर जैन शास्त्रों का विजयार्द्ध पर्वत उत्तरीय ध्रुव में कहीं पर अवस्थित अनुमानित होता है। उत्तरीय ध्रुव की जो खोज हुई है, उससे पता चला है कि किसी जमाने में वहाँ सभ्य मनुष्य रहते थे...उजड़े हुये नगरों के खंडहर वहाँ मिले हैं। संभवतः शीतके अधिक प्रकोप के कारण वहाँ के निवासी यूरुप और मध्यएशिया में आ रहे थे[2]। संसार में एक समय शीत के अत्यधिक प्रकोप का पता वैज्ञानिकों को चला है[3]। उसी समय विद्याधर लोग अपने नगरों को छोड़कर चले आये होंगे[4]। मध्य एशिया, तुर्किस्तान और तातार देशवासी अपने को 'काश्यप' नामक पूर्वज का वंशज बतलाते हैं[5], जो कि भ० ऋषभदेव के गोत्र का एवं उग्रवंश के मूल नायक काश्यप का द्योतक है।

जैन शास्त्रों में विजयार्द्ध पर्वत भरत क्षेत्र के बीच में बतलाया है। इस पर्वत और गंगा-सिन्धु नदियों से भरत क्षेत्र के छः खण्ड हो जाते हैं: जिसमें बीच का एक आर्यखंड है। भरतक्षेत्र का विस्तार ५२६,६/१९ योजन है और एक योजन २००० कोस का माना जाता है। अतः भरतक्षेत्र का विस्तार उपलब्ध लोक से बहुत बड़ा होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि भारतवर्ष को भरतक्षेत्र नहीं समझा जा सकता और न भारत की गंगा सिन्धु नदियां वे महागंगा और महासिन्धु नाम की नदियां हैं। हां, भारतवर्ष सहित सब ही उपलब्ध और ज्ञात लोक का समावेश भरतक्षेत्र के आर्यखंड में हो जाता है। स्व०

---

१ एसियाटिक रिसर्चेज़, भाग ३ पृ० ५२।

२ "वीर", भाग २ अंक १०-११।

३ प्री-हिस्टॉरिक इंडिया, पृ० ४३।

४ "पद्मपुराण" (पृ० ५२-१२४) पढ़ने से यही बात स्पष्ट होती है।

५ हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, भाग २, पृ० २८।

पं० गोपालदास जी बरैया भी उपलब्ध दुनियाँ को आर्यखंड के अन्तर्गत मानते थे[1]। अथवा बैरगोल के स्व० पंडिताचार्य जी ने आर्यखंड को निम्न ५६ देशों में विभक्त किया था, उनमें चीन, अरब आदि देश भी शामिल थे[1]। मध्य एशिया, अफ्रीका आदि देशों को पुराने साहित्य में 'आर्यबीज' कहा भी गया है[2]। अतः इन सब देशों को आर्य खंड के अन्तर्गत मानना ठीक है ? इस अवस्था में जैन शास्त्रों में जिन स्थानों का वर्णन मिलता है, जैसे भरतचक्रवर्ती की दिग्विजय का वर्णन, तो वह विश्वभूगोल का परिचय पाने के लिये उपयोगी सिद्ध होगा। योग्य विद्वानों को इस दिशा में विशेष अध्ययन और अन्वेषण करने की आवश्यकता है।

उदाहरणस्वरूप में राक्षसवंशी विद्याधरों के मूल निवासस्थान राक्षसद्वीप को लीजिये। भारतवर्ष अथवा मध्यएशिया में इस नाम का कोई देश नहीं मिलता है। किन्तु यूनानी लेखकों ने मिश्रदेश में कतिपय ऐसे प्रदेशों का उल्लेख किया है जिसे राक्षसद्वीप कहा जा सकता है। यूनानी लेखक उस प्रदेश को रॉकोटिस (Rhacotis) कहते थे[3]। यूनानी भूगोलवेत्ता केडरेनस (Cedrenus) ने उसे 'रॉखास्तेन' (Rakhasten) (=राक्षस थान) कहा है। यह प्रदेश सिकन्दरिया के निकट स्थित था[4]। प्लिनी (Pliny) ने लिखा है कि मेसफीस (Mesphees) नामक मिश्र के एक प्राचीन राजा ने यहाँ पर दो स्तंभ बनवाये थे और उससे पहले अनेक राजाओं ने यहाँ दुर्ग गेह बनवाये थे[6]। यह प्रदेश भूमध्यसागरीय क्षुद्रद्वीप के किनारे पर 'त्रिशूल' अर्थात् तीनकूट वाले पर्वत से सटकर विद्यमान था[7]। जैन शास्त्रों में भी राक्षसद्वीप में तीनकूटवाला 'त्रिकूटाचल' पर्वत बतलाया गया है। वहाँ पर कमलों से मंडित उद्यान और वन भी बताये गये हैं। मिश्र के उस भाग में जहाँ सिकन्दरिया बसी है, पुराने जमाने में बहुत से वन थे, जिनके कारण वह 'अटवी' कहलाता था। नील नदी का यह मुहाना गहन वन से भरा था। यूनानी लोग उसे अपनी देवी का पवित्र स्थान (Sacred to the Goddess Diana) मानते थे[7]। इन सादृश्यों को देखकर यदि राक्षसद्वीप मिश्र की ओर माना जाय तो अनुचित नहीं है। भारत में तो वैसा कोई स्थान दिखता नहीं। हमारे लिखने का अभिप्राय यह है कि यदि जैन शास्त्रों के कथनों का अध्ययन तुलनात्मक रूप में किया जावे, तो एक नया प्रकाश विद्वत् जगत को प्राप्त हो।

---

१ जैनहितैषी, भा० ७ अंक १।
२ एसियाटिक रिसर्चेज, भा० १ पृ० २८२।
३ हि० दा० विश्वकोष, भा० १ पृ० ६३१-६३४ व एशि० रि०, भा० ३ पृ० ८८।
४ एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १०० व १८६।
५ पूर्व०, पृ० १८६।
६ पूर्व०, पृ० १५४।
७ पूर्व०, पृ० ४७ व १६४।

प्राचीन भूगोल के विषय में भी बहुत सी नई बातें मालूम हों। विद्याधर वंश के राजाओं का सम्पर्क भारत-बाह्य देशों से रहा है। इसलिये उनके कथानकों का मध्य एशिया आदि देशों की कथाओं से तुलना कर के अध्ययन करना आवश्यक है।

इक्ष्वाकु आदि वंश

भारत के अवशेष मुख्य राजवंशों में कुरुवंश, हरिवंश, इक्ष्वाकुवंश, काश्यपवंश और नाथवंश रहते हैं। कुरुवंश के ही अधीश्वर जयसेन प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् भरत के सेनापति थे। वह मेघेश्वर भी कहलाते थे। कुरुक्षेत्र के वह शासक थे और उनकी राजधानी हस्तिनागपुर थी। शान्ति, कुन्थु, और अरह तीर्थङ्कर और चक्रवर्ती भी इस वंश में हुये थे। वात्सल्यधर्म के आदर्श के संस्थापक मुनि विष्णुकुमार भी इसी वंश के रत्न थे। 'महाभारत युद्ध' में कौरव पांडवों के प्रतिपक्षी थे। सारांश कुरुवंश एक अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वशाली राजवंश रहा है। इसका इतिवृत्त इकट्ठा करके देखने की आवश्यकता है कि विश्व इतिहास में उनका क्या स्थान है ?

हरिवंश संभवतः कुरुवश इतना प्राचीन नहीं है। 'हरिवंश पुराण' में इस वंश की उत्पत्ति राजा हरि द्वारा भ० मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थकाल में हुई बताई जाती है। विद्याधर वंश का एक राजा इस देश में आ गया था। उसका पुत्र हरि हुआ, जो अपने पराक्रम के लिये प्रसिद्ध था[१]। किन्तु 'आदिपुराण' में (१६।२४१-२७५) 'हरिवंश' की उत्पत्ति भी भ० ऋषभ द्वारा हुई निर्दिष्ट है। वहाँ राजा हरिकान्त को इस वंश का मूलनायक बताया है। इसी 'हरिवंश' में उपरान्त राजा यदु हुये थे, जिनसे 'यादव' वंश प्रसिद्ध हुआ था। इन यादवों का जनतन्त्रात्मक राजसंघ था, जिसका प्रत्येक सदस्य राजा कहलाता था। इन वंशों के विषय में भी विशेष अध्ययन की आवश्यकता है। विदेशों से इनका सम्पर्क रहा है।

इक्ष्वाकुवंश भ० ऋषभनाथ का मूल राजवंश था। 'आदिपुराण' में लिखा है कि "जिस समय कल्पवृक्ष नष्ट हुए थे, उस समय भगवान ने मनुष्यों के लिये प्रथम ही इक्षुरस ग्रहण करने का उपदेश दिया था, इसलिये लोग उन्हें 'इक्ष्वाकु कहते थे। 'इक्षून् आकयति कथयतीति इक्ष्वाकुः' अर्थात् जो ईख लाने को कहे उसे 'इक्ष्वाकु' कहते है"। (आदिपुराण संक्षिप्त, पृ० ७७-७८) इस वंश में बड़े २ पराक्रमी राजा हुए थे। पश्चात् इसी वंश से 'सूर्य' और 'चन्द्र' वंशों की भी उत्पत्ति हुई थी। इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के शिलालेख भी मिलते है; जिनको अध्ययन करने की जरूरत है। विदेशी 'किश' राजवंशावली में भी इक्ष्वाकु का उल्लेख मिलता है। इससे विदित होता है कि इस वंश के महापुरुषों ने विदेशों में भी राज्यस्थापना की थी !

१ हरिवंशपुराण' (मा चं० ग्रं०) सर्ग १५ श्लो० ५२—५८, पृ० २४६।

काश्यपवंश का ही अपर नाम 'उग्रवंश' है। 'संक्षिप्त आदिपुराण' (पृ० ७७) में लिखा है कि "काश्यप ने अपना नाम मघवा रक्खा और 'उग्रवंश' का मूल नायक हुआ।" तेइसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ भी उग्रवंश के थे।—उपरान्त नागवंश के राजाओं का सम्पर्क उग्रवंश से माना जाता है। उरग या उग्र नागवंश के समान ही 'उइगरस्' (Uigurs) नामक जाति के लोग मध्य एशिया में रहते थे[1]। संभव है, यह मूलतः उग्रवंश से सम्बन्धित हों। मध्य एशिया के यह लोग अपने पूर्वज का नाम काश्यप ही बताते हैं[2]।

नाथवंश में अन्तिम तीर्थंकर महावीर का जन्म हुआ था। 'आदिपुराण' में लिखा है कि सती सुलोचना के पिता अकम्पन ने अपना नाम श्रीधर रक्खा था और वही 'नाथवंश' का मूल नायक हुआ था। यह वंश 'ज्ञातृकुल' नाम से भी प्रसिद्ध रहा है। इस वंश की ऐतिहासिक स्थिति प्रकट करने वाले कई लेख 'अनेकान्त' में प्रकाशित हुए थे।

इस प्रकार विज्ञ पाठक देखेंगे कि जैन साहित्य विश्वइतिहास और भूगोल के अध्ययन के लिये कितने महत्व की वस्तु है। क्या ही अच्छा हो कि योग्य जैन विद्वानों द्वारा इस दिशा में विशेष अन्वेषण कराया जावे। इतिशम्।

---

१ इण्डियन हिस्टॉरीकल क्वारटर्ली, भा० १ पृ० ४६०।

२ इ० हि० क्वा०, भा० २ पृ० १८।

नीतिवाक्यामृत और उसके कर्त्ता

[लेखक—श्रीयुत पं० गोविन्दराय जैन शास्त्री, पो० महरौनी, जिला झाँसी]

(गताङ्क से आगे)

अर्थशास्त्र और नीतिवाक्यामृत में कहाँ कहाँ और किस बात में अन्तर है इस बात के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

(१) चाणक्य की राय से राजनीति अर्थ पुरुषार्थ में है, जबकि नीतिवाक्यामृत के कर्त्ता उसे धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थों में शामिल करते हैं, इसीलिए उन्होंने ग्रन्थ का नाम अर्थशास्त्र न रख कर नीतिवाक्यामृत रक्खा है क्योंकि पुरुषार्थ भरी नीति त्रिपथगा है।

(२) चाणक्य की राय में जब व्यसन सात है तब सोमदेव सूरि की सम्मति में व्यसन अठारह हैं।

(३) अर्थशास्त्र में सामाजिक सम्बन्ध के लिए जब कोई स्वतंत्र प्रकरण नहीं है तब नीतिवाक्यामृत में व्यवहार समुद्देश नामक स्वतंत्र प्रकरण है।

(४) अर्थ शास्त्र में जबकि राजा की दिनचर्या राज्यकार्योन्मुखी है अर्थात् केवल अर्थ साधने वाली है तब नीतिवाक्यामृत में धर्म, अर्थ और कामोन्मुखी है।

(५) आर्य चाणक्य ने राजमण्डलों की संख्या जब कि १२ लिखी तो नीतिवाक्यामृतकार ने १३।

(६) कौटिल्यादि नीतिकारों ने अनन्तर राज्य को मित्रमाना है पर सोमदेवसूरि ने एकान्ततः ऐसा नहीं माना है।

(७) दोनों शास्त्रों के उदाहरण भी भिन्न भिन्न हैं। प्रकीर्णक समुद्देश के विषयों की चर्चा आर्य चाणक्य ने नहीं की है जबकि सोमदेव सूरि ने इसके लिये स्वतंत्र ही समुद्देश लिखा है इस समुद्देश को आप नीतिवाक्यामृत का परिशिष्ट ही समझिये।

और विशेषता यह है कि आर्य चाणक्य ने जब कि "औपनिषदिकम्" नामक प्रकरण लिखकर हिंसात्मक गुप्त विधानों को अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है, तब सोमदेवसूरि ने उसे सर्वथा ही छोड़ दिया है। हाँ यह बात सच है कि अर्थशास्त्र जाने बिना नीतिवाक्यामृत का अर्थ ठीक ठीक नहीं लग सकता। कारण अनुग्रह, परिहार, विष्टि, कृत्य, उपधा, शिष्ट, आत्मसम्पत्ति, द्रव्यप्रकृति आदि ऐसे अनेक शब्द आये हैं जो कि राजनीति में पारिभाषिक हैं उनका यथार्थ अर्थ समझने के लिए अर्थशास्त्र भाष्य का काम देता है।

एक शंका का समाधान

बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय प० सतीशचन्द्र जी विद्याभूषण एम ए, पी एच डी ने नीतिवाक्यामृत को देख कर शंका की थी कि जब यह जैनधर्माचार्य की रचना है तब इसमें वैदिकधर्म की छाप क्यों? इसी प्रकार अन्य अनेक विद्वानों ने भी यही शंका की थी। इसके उत्तर में नीचे लिखी चार बातें समझने में आई हैं, पाठक उनके ऊपर विचार करें।

(१) न जाने कब से इस देश में वर्णाश्रम व्यवस्था प्रचलित है सारे भारत का संगठन इसीकी नींव पर खड़ा है। आज जब यह दशा है तब सोमदेव आचार्य के समय में तो उसका और प्रबल रूप होगा। कारण राजा और प्रजा दोनों ही उस समय उसके शासन में थे। वर्णाश्रमधर्म के परिपोषक वेद हैं अतः उन्हीं के आधार पर देश के रीतिरिवाजों का चलन था इसलिए वह लोक धर्म कहलाता था। रूढ़ि अर्थात् रिवाज कानून न होने पर भी कानून का ही दर्जा रखता है। यह रिवाज तीन तरह का होता है—देशीय, जातीय और लौकिक, तीनों प्रकार के रिवाज वैदिक क्रियाओं से ओत प्रोत थे।

(२) नीतिवाक्यामृत जिनके अनुरोध से लिखा गया था वे कन्नौज के महाराजा महेन्द्रदेव भी स्वयं वैदिक धर्मानुयायी थे।

(३) प्राचीन राजनीति का वह साहित्य जिसके मसाले से नीतिवाक्यामृत रचा गया है उसके बनाने वाले अधिकतर वैदिक धर्मानुयायी ही थे।

(४) सोमदेवसूरि जैनधर्माचार्य होकर भी स्वयं इस बात के प्रचारक थे कि यदि लौकिक क्रियायें वैदिक रीति से प्रचलित हैं, जन साधारण में उनका स्थान जमा हुआ है तो हम उसका क्या विरोध करें। राजा और प्रजा अपनी परम्पराओं को पालते हुए शान्ति से सुखोपभोग करें यही हम राजनीतिज्ञों को इष्ट है। लौकिक क्रियाओं के यदि वे वेद या अन्य शास्त्रों को प्रमाण मानते हैं तो इसमें हमारा क्या हानि है। हमें तो उनकी सम्यक्त्व से तात्पर्य है। यदि कोई ईसाई हिन्दुओं के लिए लॉ लिखेगा तो वह हिन्दू लॉ ही होगी और यही कार्य ऊपर के तीन कारणों को दरसाते हुए श्रीसोमदेवसूरि ने किया है। अतः नीतिवाक्यामृत में वैदिक धर्म का आन्वीक्षिकी और त्रयीविद्यों का सन्निवेश होना ही चाहिए था। हाँ यह बात ध्यान देनेयोग्य है कि इतना करने पर भी उन्होंने वेद को ईश्वरीय प्रणीत तथा स्वतः प्रमाण नहीं माना है वे उन्हें "वेतीह" कहते हैं। ऐतीह का अर्थ होता है परम्परागत उपदेश और साथ में वे यह भी कहते हैं कि वहां के सभी अंशों को सज्जन प्रमाणभूत न माने किन्तु उन्हीं अंशों को कि जिनमें सुनिश्चित प्रमाणों से कोई बाधा नहीं आती है अथवा पूर्वापर विरोध नहीं है। कुछ लौकिक क्रियायें ऐसी भी हैं कि जिनमें वास्तव में न तो धर्म है और न अधर्म, परन्तु लोक में प्रचलित होने से लौकिक धर्म में शामिल हैं।

ग्रन्थनिर्माण का कारण

नीतिवाक्यामृत की हिन्दी टीका लिखने के कुछ मास पश्चात् माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में बम्बई से संस्कृत टीका सहित नीतिवाक्यामृत प्रकाशित हुआ। उसके देखने के लिए तब हमारी उत्कण्ठा बढ़ी क्योंकि हमारी टीका गोपाल नारायण कम्पनी द्वारा मुद्रित प्रति पर से थी। हमारे मांगने पर ग्रंथमाला के मंत्री श्रीयुत पं० प्रेमी जी ने वह हमारे पास भेज दी। संस्कृत टीका को देख कर तो हमारा मन प्रसन्न न हुआ क्योंकि उसकी रचना शिथिल थी। कौटिलीय अर्थशास्त्र की अप्राप्ति से उसके टीकाकार सूत्र का अर्थ नहीं खोल सके। बल्कि कई जगह तो वह विपरीत ही हो गया। विशेषज्ञ पाठक दोनों की तुलना कर जान सकते हैं। उदाहरण के तौर पर एक स्थल बताता हूँ :—

षाड्गुण्य समुद्देश में विजिगीपु का लक्षण आया है उसमें "आत्मदैव द्रव्यप्रकृति सम्पन्नः" ऐसा पद आया उसका अर्थ संस्कृत टीकाकार ने इस प्रकार लिखा है :—"आत्म शब्द से राज्याभिषेक, दैव से पुरातन शुभकर्म, द्रव्य से भाण्डागार और प्रकृति से अमात्य आदि जानना चाहिये।" पर वास्तव में इसका अर्थ यह नहीं है। प्रकृति शब्द से यहाँ अमात्यादि अर्थ इष्ट नहीं है किन्तु प्रकृति शब्द से उत्तर भेद अर्थ ही इष्ट है। जैसे कर्मों की १४८ प्रकृतियाँ होती हैं। यहाँ प्रकृति शब्द से द्रव्य शब्द भी पृथक् नहीं है वस्तुतः अर्थशास्त्र के अनुसार द्रव्य, प्रकृति एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ होता है—अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष और सेना। इन पाँचों का एक नाम द्रव्यप्रकृति है और विजिगीपु आदि १२ राजमण्डल को मिलकर ये सब कुल ६० द्रव्यप्रकृतियाँ होती हैं। द्रव्य शब्द प्रकृति निर्पेक्ष नहीं किन्तु प्रकृति सापेक्ष है ऐसी दशा में द्रव्य का अर्थ भाण्डा-गार कैसे किया जा सकता है। इसी प्रकार आत्म शब्द का अर्थ राज्याभिषेक कैसे ठीक कहा जा सकता है। यद्यपि यहाँ राज्याभिषेक के बाद दिग्विजय करने की प्रथा थी तथापि राज्याभिषिक्त होते ही दिग्विजय करने के लिये योग्य नहीं हो जाता उसके लिए अन्य गुण बड़े आवश्यक है उन्हीं को यहाँ आत्मसम्पत्ति के नाम से कहा है। नीचे लिखे गुण आत्मसम्पत्ति में शामिल है :—प्रज्ञाप्रागल्भ, स्मृति, मति और बल का होना। उन्नत शरीर से सुन्दर, कलाकुशल, अव्यसनी, दण्ड, उपकार, और अपकार में दृष्ट प्रतीकारी, लज्जालु, प्रकृति (अमात्यादि) का विनियोगी, दीर्घदर्शी, दूरदर्शी, देश, काल, पुरुषार्थ और कार्य को विचार कर आरम्भकारी, संधि, विक्रम, दान, संयम, धन और शत्रु के छिद्र का विभागकारी, मुखविकार, परिहास, भ्रकुटिविक्षेप और नेत्र विकार को दबानेवाला, काम, क्रोध, लोभ, चापल्य और पैशून्य से शून्य, शक्यसामन्त, हँसमुख, स्पष्टभाषी और वृद्धोपदेशानु-गामी होना चाहिए।

अर्थ शास्त्र में भी यह सूत्र कुछ शब्दों के हेर फेर से इसी प्रकार का है और इसका भाष्य भी वैसाही है जैसा कि ऊपर हमने लिखा है।

जहाँ कुछ पारिभाषिक शब्द आये हैं और लेखक के दोष से यदि उनका रूपान्तर हो गया है तो उसका ही अर्थ इस टीका में कर दिया गया है। जैसे "विष्टि" शब्द कुछ परिगणित मजदूरों का नाम है परन्तु लेखक-दोष से या समझ की कमी से वहाँ विशिष्ट पाठ हो गया है तो उसका ही अर्थ कर दिया गया है ऐसी अनेक त्रुटियाँ इस टीका में है। और जो उद्धरण भी दिये गये हैं उनकी रचना प्रशम्य नहीं, एक मामूली पण्डित द्वारा एक ही भाषा में ढले हुए दिखते हैं। आर्य चाणक्य ने उन्हीं ऋषियों के जो वाक्य अपने यहाँ उद्धृत किये हैं वे कितने महत्त्व तथा ओज से पूर्ण हैं। इसलिए इस टीका के विषय में मेरी प्रेमी जी जैसी राय नहीं है। पर इस टीका से इतिहास की एक खोज के लिए नया प्रकाश मिला। इसके लिये हम बहुत कृतज्ञ हैं। इसमें लिखा है कि नीतिवाक्यामृत कन्नौज के महाराजाधिराज महेन्द्रदेव के लिये बनाया गया था। महेन्द्रदेव प्रतिहार वंशीय सार्वभौम सम्राट् थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र की क्लिष्टता तथा विस्तार से वे खिन्न थे इसलिये उससे संक्षिप्त तथा सरल कोई अर्थशास्त्र बनाने के लिये उन्होंने श्रीसोमदेव सूरि से अनुरोध किया और उसी के फलस्वरूप यह ग्रंथ है।

"आर्य चाणक्य ने जिस प्रकार मौर्य चन्द्रगुप्त के लिए कौटिलीय अर्थशास्त्र लिखा उसी प्रकार आप हमारे लिए कोई अर्थशास्त्र लिखिये, जिससे दोनों की स्मृति बनी रहे।"

हमारी समझ में यह भावना भी महाराज महेन्द्रदेव के मन में होनी चाहिए अस्तु इस टीका के उपर्युक्त कथन से उस समय माननीय प्रेमी जी सहमत नहीं हुए उन्होंने आपत्ति की कि दोनों में समय का मेल नहीं खाता। एक दिन हम एक छात्र को यशस्तिलकचम्पू पढ़ा रहे थे। पढ़ाते पढ़ाते जब हमारी दृष्टि (सोऽयमाशार्पितयशा <u>महेन्द्रामरमान्यधीः</u> । देयात्ते सन्ततानन्द वस्त्वमीष्ट जिनाधिप ।) इस श्लोक पर गई तब हमारे हर्ष का ठिकाना न रहा। क्योंकि श्लोक से संस्कृत टीका की उक्त बात का समर्थन होता था। वह द्व्यर्थक है। जिनेन्द्र अर्थ के साथ प्रत्येक चरण के प्रथम अक्षर को लेने से ग्रन्थकर्त्ता सोमदेव का भी अर्थ आता है और महेन्द्रामरमान्यधी पद से महेन्द्रदेव से मान्य प्रतिभा वाले यह भी बात ध्वनित होती है। यद्यपि यह बात यशस्तिलक के टीकाकार ने नहीं लिखी है। इसके बाद मंगलाचरण के जिस प्रथम श्लोक पर हमारी दृष्टि पड़ी वह श्लोक यह है "श्रिय कुवलयानन्दप्रसादितमहोदय । देवश्चन्द्रप्रभः पुष्यात्जगन्मानसवासिनीम् ॥" इस श्लोक के भी दो अर्थ है। "महोदय" का दूसरा अर्थ कन्नौज है क्योंकि उसका यह नाम भी महाकवि राजशेखर आदि के ग्रन्थों से प्रसिद्ध है। देव का अर्थ है "महेन्द्रदेव" आशय ने प्रेमवश मंगलाचरण में मंगल कामना कर इस सम्राट् को सन्निप्त नाम से आशीर्वाद दिया है। सोमदेव कृत एक ग्रन्थ का भी नाम महेन्द्रमातलि संजल्प है। इस नाम में भी महेन्द्र पद आया है। यशस्तिलक में महेन्द्रदेव और महीपाल के वंश का भी नाम (रघुवंशमिव माघवी प्रसूतम्) कहकर लिखा है। ये दोनों रघुवंशी थे। महेन्द्रदेव के

पिता "आदिवराह का" जिनका कि अपर नाम भोज भी था उल्लेख एक श्लिष्ट पद से हुआ है (आदिवराहदंष्ट्रामुक्ताफलमिव आ० २ पृ० ५३) यशस्तिलक में सैकड़ों ऐतिहासिक बातों का कथन श्लिष्ट पदों में छिपा हुआ है, जिसके गहरे अध्ययन की आवश्यकता है। यशस्तिलक के पाठ से ऐसा ज्ञात होता है कि आचार्य ने यशोधर महाराज के वैभव के व्याज से अपने स्नेह पात्र महाराज महीपाल के वैभव का स्वयं दृष्ट वर्णन लिखा है। वैभव में दोनों की समता स्पष्ट झलकती है। एक जगह आचार्य ने यशोधर महाराज को स्पष्ट शब्दों में "अहिच्छत्रक्षत्रीय चूडामणि" लिखा है। पद्य में सम्राट् महीपाल की भी ध्वनि प्रकट होती है क्योंकि अहिच्छत्रक्षत्रीय शाखा के वे भी थे। इसके सिवाय यशस्तिलक के द्वितीय आश्वास पृ० १६३ में "कलिकालव्यालधर्मावलोकमहीपाल" वाक्य से वे महीपाल का सम्बोधन करते हैं और उसकी प्रशंसा में कहते हैं कि हे महीपाल तू कलिकाल के लिए व्याल अर्थात् नाग है। महीपाल का एक पूर्वज महाराजा नागावलोक भी था जो कि धर्म तथा प्रताप के लिए अति प्रसिद्ध था अतः कलिकाल व्याल इस पद से यह भी ध्वनित होता है कि हे महीपाल तू कलिकाल का व्याल अर्थात् नागावलोक है क्योंकि तेरे गुण भी उसके समान ही हैं। धर्मावलोक (जिसका अर्थ होता है रक्षक) पद से पता लगता है कि यह महीपाल का दूसरा नाम था। धर्मावलोक, नागावलोक आदि नामों से ज्ञात होता है कि इस वंश के कुछ राजाओं के नाम में अवलोक पद लगाने की एक प्रथा थी। महान् "अशोक" का नाम भी "धर्माशोक" पाया जाता है। "अस्मिन्महिपाल गजे सदाने जगत्यभूत्कस्य न दानभाव। क्षितिः सदानार्थिजनः सदानन्नवाग्निर्गश्च यतः सदानः। 'अये' विग्रहाग्रहग्रहिल एव स महीपालः आ० ३" इन स्थलों में भी महीपाल का संकेत पाया जाता है। यशस्तिलक में महेन्द्रपाल और महीपाल के दरबारी कवि तथा उपाध्याय "राजशेखर" का नाम भी प्रसिद्ध महाकवियों की नामावली में लिखा है अतः उपर्युक्त कथन से तथा संस्कृत टीकावाली जनश्रुति के आधार से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि श्री सोमदेव सूरि का तथा कान्यकुब्जेश्वर सार्वभौम सम्राट् महेन्द्रदेव का तथा उनके उत्तराधिकारी महीपाल का अवश्य घनिष्ट स्नेह सम्बन्ध था, महेन्द्रदेव प्रथम ही नीतिवाक्यामृत के निर्माण में कारण है।

समय निर्णय।

सोमदेवसूरि कब हुए ? और यशस्तिलकचम्पू तथा नीतिवाक्यामृत कब बने ? यह जानने के लिये विशेष ऊहापोह करने की जरूरत नहीं है; क्योंकि ग्रंथ में दी हुई प्रशस्तियों से ही हमें इस बात का पता लग जाता है। यशस्तिलकचम्पू में नीचे लिखी हुई एक प्रशस्ति दी है :—

"शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अङ्कतः (८८१) सिद्धार्थ-संवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्या पाण्ड्यसिंहल-चेल-चेरमप्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य मेल-

पाटीप्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविनि समधिगतपञ्चमहाशब्द महासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलज नम सामन्तचूडामणे श्रीमदरिकेशरिणः प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्वग्गराजस्य लक्ष्मीप्रवर्धमानवसुधारायां गंगाधारायां विनिर्मापित मिदं काव्यमिति ।" अर्थात् शक सं० ८८१ (वि० सं० १०१६) में पाण्ड्य, सिंहल, चोल तथा चेरम आदि देशों के राजाओं को जीतनेवाले महाराजाधिराज श्रीकृष्णराजदेव जब मेलपाटी में साम्राज्य सभाल रहे थे तथा उनके पादपद्मोपजीवी चालुक्य नरेश श्रीअरिकेशरि के प्रथम पुत्र महासामन्त महाराज श्री वद्दिगराज गंगाधारा में राज्य कर रहे थे तब यह यशस्तिलक चम्पू नाम का महाकाव्य सिद्धार्थ नामक सवत्सर में चैत्र की मदन त्रयोदशी को गंगाधारा में पूर्ण हुआ।

इस प्रशस्ति में जिस कृष्णराजदेव का नाम आया है और जिनको पाण्ड्य, चोल, आदि देशों का विजेता लिखा है वे दक्षिण के इतिहास के अनुसार राष्ट्रकूटवंशीय तृतीय श्रीकृष्णराजदेव है इनका अपर नाम अकालवर्ष भी था। इनके पिता का नाम तृतीय अमोघवर्ष था ये दक्षिण के सार्वभौम सम्राट् थे और मेलपाटी या मान्यखेट में इनकी राजधानी थी। चालुक्य नरेश इनके आधीन महासामन्त थे। कनड़ भाषा का प्रसिद्ध कवि "पोन्न" शान्ति पुराण का कर्त्ता है। इसकी रचना पर प्रसन्न होकर इन्हीं तृतीय कृष्णराजदेव ने इसको अपने दरबार से "उभयभाषा कविचक्रवर्ती" की पदवी दी थी। "कन्नड साहित्य" के इतिहास के लेखक ने तृतीय कृष्णराजदेव का राज्यकाल ई० सन ९३९ से ९६८ (वि० सं० ९९३ से १०२२) तक लिखा है। यह समय यशस्तिलक की प्रशस्ति से ठीक मिलता है।

इसी प्रकार चालुक्य नरेश द्वितीय अरिकेशरी के समय में कनड़ी भाषा का सर्वश्रेष्ठ कवि "पम्प" हो गया है। इसके बनाये हुए दो ग्रंथ अति प्रसिद्ध है —आदिपुराणचम्पू भारत या विक्रमार्जुनविजय। इसकी रचनाओं पर मुग्ध होकर महाराजा अरिकेशरी ने कवि को धर्मपुर नामक ग्राम तथा पालकी आदि राजचिह्न पुरस्कार में दिये थे। पिछले ग्रंथ में कवि ने अपने आश्रयदाता अरिकेशरी की वंशावली इस प्रकार दी है

युद्धमल्ल अरिकेशरी नारसिंह युद्धमल्ल वद्दिग-युद्धमल्ल-नारसिंह और अरिकेशरी।

कवि का यह दूसरा ग्रंथ शक सं० ८६३ (वि० सं० ९९८) में समाप्त हुआ। इसके १८ वर्ष बाद यशस्तिलकचम्पू काव्य पूर्ण हुआ तब उसके समय में द्वितीय अरिकेशरी का प्रथमपुत्र श्री वद्दिगराज राज करता हो यह बात बिलकुल ठीक जचती है। यद्यपि वद्दिगराज वंशावली में एक और बतलाया गया है पर वह अरिकेशरी का पुत्र न था जिसकी ओर प्रशस्ति सकेत करती है किन्तु वह द्वितीय युद्धमल्ल का पुत्र है। यह तो हुई यशस्तिलक की समाप्ति की बात, पर यशस्तिलक तथा नीतिवाक्यामृत का बनाना कब और कहाँ प्रारम्भ हुआ यह जानने के लिए हमारे पास कोई सुगम साधन तो नहीं है तथापि

ग्रन्थ के भीतरी साहित्य से जो हमारे विचार उत्पन्न हुए हैं उन्हें सहृदय पाठकों के लिए नीचे लिखता हूँ :—

(१) श्री सोमदेव सूरि ने बहुत समय तक न्याय विद्या का अभ्यास कर अपने संघ गुरुओं की प्रथा के अनुसार पहिले पहल खण्डन-मण्डनात्मक ग्रन्थ लिखे और वे प्रायः दक्षिण में ही लिखे गये यह बात प्रशस्ति तथा यशस्तिलक के (आजन्म समभ्यस्ताच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिममास्याः) पद से स्पष्टतया समझ में आती है। न्यायविद्यामें परिणत बुद्धि हो जाने के कारण जब उनको उसमें कोई नवीनता न रही तब उनका नित्य अपूर्व ज्ञान संग्रह के लिये उत्सुक मन अन्य विषयों की ओर झुका। उन्होंने उपलब्ध समस्त संस्कृतसाहित्य का बिना किसी भेद भाव के तथा बिना किसी परहेज के पर्यवेक्षण किया। जब कोई उनसे जैन दि० मुनि होने के कारण ऐसे ग्रंथों को देखने के लिये कुछ कहता तब वे उसका समाधान इस प्रकार कर देते कि "सज्जन पुरुषों के लिए संसार की सब विद्यायें तीर्थस्थान के समान है।" (लोकोयुक्तिः कलाश्छन्दः इत्यादि श्लोक को देखिये यह इसी बात को सूचित करता है) सच्चा ज्ञान पिपासु इसके सिवाय और उत्तर ही क्या दे सकता है। उन्होंने वेदों को भी पढ़ा था यह बात उनके "जुहूराण" 'भूर्भुवः' आदि शब्दों के प्रयोग से ज्ञात होती है। इस समय भी उनका न्याय का विषय कुछ न कुछ फिर भी चालू रहता ही था क्योंकि यह विषय उनका जन्म सिद्ध था। समस्त संस्कृत वाङ्मय का अवलोकन करते समय उन्हें ऐसे हजारों शब्द मिले जो एक तरह से लुप्त हो गये थे। उनका उद्धार करने के लिए उनके मन में कल्पना उठी। साथ ही उनको अहिंसा का विषय बड़ा प्रिय था क्योंकि अहिंसा के समर्थन के लिये ही तो उन्होंने यशस्तिलकचम्पू को लिखा है। नीतिवाक्यामृत में भी उन्होंने जहाँ तक शक्य था अहिंसा का समर्थन किया है। वे सोचते थे कि न्याय से कुछ विद्वान् ही लाभ उठाते हैं साधारण प्रजा तथा राजा न्यायविद्या से अनभिज्ञ होने के कारण लाभ नहीं उठाते। उससे केवल खण्डन-मण्डन ही होता है इसलिये ऐसा साहित्य रचा जावे जिससे सभी लोग सहज में सभी सम्प्रदाय के ऋषियों के वचनों से लाभ उठावें। उससे हमारे दोनों उद्देश्यों की सिद्धि होगी ऐसा विचार कर ही उन्होंने किसी साहित्यिक ग्रन्थ के रचने की ठानी। दक्षिण के तुलुदेश (दक्षिण कन्नड़) तथा महाराष्ट्रों में जैनियों का अधिक प्राबल्य था। राजाश्रित या राजभक्ति पाये हुए उनमें बहुत बड़े-बड़े समर्थ विद्वान् मौजूद थे। कुछ अजैन जो उनके इस वैभव को नहीं देख सकते थे, कभी कभी संघर्ष भी कर बैठते थे। इस तरह सारा दक्षिण उस न्यायविद्या की चर्चा में अधिकतर लीन था। सोमदेव को भी संघाधिपति होने के कारण उसमें भाग लेना पड़ता था। इसलिए दक्षिण उस समय यशस्तिलकचम्पू जैसे समयसाध्य महाकाव्य की रचना के लिए उपयुक्त न था। उत्तर भारत ही उसके लिये उपयुक्त था। कारण वहाँ शास्त्रार्थों की धूम न थी साहित्यचर्चा ही अधिकतर थी।

मालवा, कन्नौज तथा त्रिपुरी के राजदरबार इस साहित्यिक गोष्ठी के बड़े पोषक थे। बाण, पद्मगुप्त, धनपाल, विल्हण, धनञ्जय, राजशेखर आदि महाकवि इन्हीं स्थानों में आगे पीछे हुए हैं। इन सब कारणों को सोच कर श्री सोमदेव सूरि उत्तर भारत में आये होंगे, ऐसी कल्पना उठती है। उत्तर भारत में आकर जब से इसके यौधेय (जोहिये) प्रदेश में आये तब उन्होंने सोचा कि महाराज यशोधर इसी यौधेय देश के राजा थे। उन्होंने अपनी माता को अहिंसा के लिए बहुत समझाया पर माता ने नहीं माना और झूठी हिंसा करवाई, जिसके फलस्वरूप दोनों की कुगति हुई। अत इसी विषय पर उन्होंने अपना महाकाव्य बनाना निश्चित किया जिसका कि नाम हम यशस्तिलकचम्पू देख रहे हैं। यशस्तिलक चम्पू के भीतरी साहित्य के सिवाय नीतिवाक्यामृत के "टिरिट्टलितम्" (टिरांना) "कुरकील" "कोकल'" (पहाड़) "झँपाग" (ढपाख) "हरीतकी" (दांतों के मसूड़े जिन्हें देशी बोली में में हरिया कहते हैं) "वाह" (बाँहमुजा) 'बुस' (बुसा) 'पेटक' (पेट) 'जामि' (जमाई) आदि शब्द तथा घत्ता चतुष्पदी आदि उत्तर भारत के छन्द उनका उत्तर प्रान्त में प्रवास अवश्य सूचित करते हैं। उस समय के उपलब्ध काव्यों में कवियों ने अपनी कल्पना की कलाही प्रदर्शित की है। प्राचीन ज्ञान विज्ञान का उनमें कुछ भी संग्रह नहीं, भारत का यह महाधन यों ही लुप्त हो रहा था। काव्यों में विल वहलाव के सिवाय लोक चतुराई, सदाचार, परोपकार आदि विषयों को कुछ स्थान नहीं था। अत इन विषयों को अपने काव्य में स्थान देने का निश्चय किया। पाठक देखेंगे कि यशस्तिलक को आचार्य ने इन्हीं खूबियों के कारण असहाय और अनादर्श कहा है। जो लोग इस प्रथा को पसंद नहीं करते थे, प्रचलित प्रथा के विरुद्ध इसे कहते थे। ऐसे लोगों को खुले शब्दों में आचार्य सरस्वती द्रोही कहते थे। उनको कविता सुनाना भी पसन्द नहीं करते थे, कारण वे सरस्वती विकास को रोकते थे। ढरेंबाज लोग जनता को बौद्धिक दासत्व से जकड़ते हैं। आचार्य के इस भाव को जानने के लिए पाठक प्रथम आश्वास के "गुणेषु ये दोषमनीषयान्ध" इत्यादि श्लोक को देखें। अस्तु आचार्य ने उत्तर भारत में रहकर यशस्तिलकचम्पू का बड़े श्रम से बहुत सा अंश रचा और हमारा अनुमान है कि वह अंश पाँचवें[२] आश्वास तक है। ग्रन्थ के समाप्त प्राय होने से आचार्य को भी बड़ी खुशी हो रही थी। कारण वे जैसा चाहते थे वह वैसा ही काव्य बना था और स्वय भी उसे वे अपने बूते से बाहिर समझते थे उसके बनने में सज्जनों का पुण्य ही एक कारण मानते थे।

टि० (१) उत्तर भारत में विन्ध्यराज, विन्ध्यवर्मा, पर्वत सिंह, पर्वतक आदि नाम राजाओं के रक्खे जाते थे। कन्नौज स्वय एक त्रिपुरी के महाराजा का नाम था।

(२) पाठक प्रमाण के लिये नीचे लिखे श्लोक को देखें —

"इयता ग्रन्थसमाप्तौक चरितं यशोधरनृपस्य। इति उपरतु वक्ष्ये सुतपठितमुपासकाध्ययनम् ॥

(आ० ५)

दिगम्बर जैन मुनि चौमासे के सिवाय अन्य समय में एक स्थान में बहुत समय तक न रह कर इधर उधर विहार करते रहते हैं। इस विहार में आत्मकल्याणार्थ ध्यानादिक तपस्या करते हुए परोपकार, धर्मोपदेश भी करते रहते हैं सोमदेवसूरि ने भी ऐसा ही किया होगा। बहुश्रुत तथा लोकानुभवी होने से उनका यश सारे उत्तर भारत में भी दक्षिण भारत की तरह छा गया था और वे सर्वप्रिय साधु हो गये थे। उत्तर भारत में उस समय कन्नौज के राजा ही सार्वभौम थे। श्री सोमदेव सूरि इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि अहिंसाधर्म को प्रबल बनाने के लिए राजाश्रय, विद्वानों का सहयोग तथा सर्वसाधारण का विश्वास अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये ये इन्हीं बातों के उपार्जन में लगे हुए थे। अपना व्यक्तित्व भी बढा रहे थे और वह भी इतना महान् हो चुका था कि क्या राजा और क्या प्रजा, क्या मूर्ख और क्या पण्डित, क्या अमीर क्या गरीब, सभी लोग अत्यन्त श्रद्धा से बिना किसी धार्मिक भेद-भाव के उनकी बात को सुनते तथा मानते थे। ऐसी स्थिति में मालूम पड़ता है कि कन्नौज के महाराजा महेन्द्रदेव ने कन्नौज या साम्राज्य के अन्य किसी स्थान में श्री सोमदेवसूरि के दर्शन किये तथा हार्दिक आनन्द के साथ अपनी अपार भक्ति प्रगट की और हमारी समझ में भेंट का यह स्थान प्रायः कर के "महोदय" अर्थात् कन्नौज ही था क्योंकि यशस्तिलक में आचार्य ने अपने श्लिष्ट पदों से महोदय अर्थात् कन्नोज की भी बहुत प्रशंसा लिखी; वे कहते हैं "—नृपनृपतीश्वर भूरमणीश्वर यदिदमखिल-गुणसंश्रय। उक्तं किञ्चित्स्वस्तुतिकृतिचित्तश्चित्रं न महोदय।" इसका अर्थ यह है कि हे महोदय तू सचमुच राजराजेश्वर है (कारण बहुत से सामन्तराज इसी के अधीन हैं) और तू ही इस भूरमणी का स्वामी है तेरे में अखिल गुणों का वास है इसलिए हमने जो कुछ तेरी प्रशंसा में कहा है वह कुछ आश्चर्य कारक नहीं है कारण तू ऐसाही है। यद्यपि जैन मुनि किसी राजा के राजदरबार में नहीं जाते प्रत्युत राजा महाराजा तथा अन्य रईसगण अपने दलबल सहित उनके स्थान पर ही जाकर उनका दर्शन करते हैं। यह बात हमने वर्तमान में भी अपनी आँखों से देखी है। दक्षिण में जिस प्रकार जैनियों की कई राज-गद्दियाँ थीं वैसी उस समय उत्तर भारत में कोई जैन राजगद्दी नहीं थी। उत्तर भारत के राजा प्रायः सभी वैष्णव तथा शैव ही थे। इन निमित्तों के सिवाय फिर जिसका व्यक्तित्व असाधारण हो उसके मान सन्मान का क्या कहना।

श्री महाराज महेन्द्रदेव ने दर्शन के पश्चात् कठिन परिश्रम से बनाये हुए आचार्य के यशस्तिलकचम्पू काव्य को अपने दरबारी पण्डितों के साथ अवश्य सुना होगा और उसमें राजनीति के कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि के तत्वों को सुन कर यदि इच्छा प्रकट की हो कि आप हमारे लिए संक्षिप्त तथा सरल नवीन ही कोई अर्थशास्त्र लिख दें तो बहुत अच्छा हो और अधिकतर संभव है कि आचार्य ने उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर उसको बनाना स्वीकार भी कर लिया हो क्योंकि वे अधिकारी थे। परन्तु दैवघटना बड़ी प्रबल है कि इस प्रथम

महेन्द्रदेव ने इस घटना के कुछ समय पश्चात् स्वर्गारोहण कर लिया। श्रद्धेय प० गौरीशंकर हीराचन्द्र जी ओझा के राजपूताना इतिहास के पहिले भाग में इस राजा का राज्यकाल विक्रम स० ९५० से ९६४ लिखा है। इसके बाद इनका पुत्र महीपाल वि० स० ९७१ में राजसिंहासन पर बैठा। इसने भी अपने पूज्य पिता जी की तरह श्री सोमदेव सूरि की अधिक भक्ति की। पाठक प्रथम आश्वास के अन्तिम श्लोक के "सोऽस्मासार्पितयशा-महेन्द्रामरमान्यधी।" सोऽय पद पर ध्यान दें हिन्दी में इसका अर्थ यह होता है कि कवि "महेन्द्रामरमान्यधी" और आसार्पितयशा" कह कर महेन्द्रदेव वाले पिछले सम्बन्ध की स्मृति दिलाता है। वे महीपाल को सूचित करते है कि जिसका यश दिगन्तव्यापी है और जिसका पाण्डित्य तुम्हारे पिता महेंद्रदेव से मान्य था वही मै सोमदेव आचार्य तुम्हे आशीर्वाद देता हूँ कि सतत आनन्द देनेवाली अभीष्ट वस्तु तुम्हें प्राप्त हो। महेंद्रदेव बड़े गुणी तथा भक्त सम्राट् थे।

आचार्य उन्हें अब भी न भूले थे। पाठकों को यह जानना भी ठीक होगा कि यद्यपि यशस्तिलकचम्पू एक प्रकार के पूर्ण हो गया था (पाँचवें आश्वास तक) और आचार्य, महीपाल की मुलाकात के समय उसका पुन संशोधन तथा घटनावश कहीं कहीं फेरफार कर रहे थे। यह बात हमें यशस्तिलकचम्पू की प्रारम्भिक प्रस्तावना पढ़ते समय झलकती है। आचार्य इस प्रस्तावना में यशस्तिलक के लिये भूतकाल की क्रिया का प्रयोग करते है अन्यथा आगे बननेवाली चीज के विषय में भविष्यत् काल की क्रिया का प्रयोग करते और चीज अभी सामने है ही नहीं उसके विषय में पहिले से ही प्रचुर प्रशसात्मक पद्य स्वय नहीं लिखते। यशस्तिलक के जो "देव" "महेन्द्रदेव" "धर्मावलोकमहीपाल" और "राजेश्वर" "भोज" आदि ऐतिहासिक नाम हैं। वे सब इसी सशोधन काल के हैं। नीतिवाक्यामृत बनाया तो गया प्रथम महेन्द्रदेव के लिए पर उनके स्वर्गवासी हो जाने के कारण उनकी चर्चा कर आचार्य ने उनके पुत्र तथा प्रजा को दु खित करना उचित नहीं समझा। प्रथम भोज महेन्द्रदेव के पिता थे। इन सब बातों का सार यही निकलता है कि यशस्तिलक के पाँच आश्वास तथा नीतिवाक्यामृत उत्तर भारत में ही बने और यह समय प्रथम महेन्द्रदेव और महीपाल के शासन का था और सभव है कि आचार्य की वय इस समय ५० के लगभग हो। राजशेखर कवि के बनाये हुए पाँच ग्रथ उपलब्ध है—(१) काव्यमीमासा (२) कर्पूरमञ्जरी (३) बालरामायण (४) बालभारत और (५) विद्धशालभञ्जिका। इसने कर्पूरमञ्जरी की प्रस्तावना में अपने को महेन्द्रदेव का गुरु लिखा है और बालभारत की प्रस्तावना में अपनी विद्धशालभञ्जिका नाटिका का अभिनय इनके पुत्र महीपाल के सामने महोदय में होना सूचित करता है तथा इसी विद्धशालभञ्जिका का दूसरा अभिनय वह त्रिपुरी के राजा युवराज देव के दरबार में भी बताता है यह युवराज देव प्रथम था जिसका कि नाम कर्पूरवर्ष भी था। इसका अब तक कोई शिलालेख तो नहीं मिला है तो भी श्री युवराजदेव

(द्वितीय) की विल्हरी से मिली हुई बृहत् वंशावली में लिखा है कि श्रीयुवराजदेव प्रथम के प्रपितामह कोक्कल ने अपने दो बड़े कीर्तिस्तम्भ स्थापित किये थे। उत्तर भारत में महाराजा भोज और दक्षिण में कृष्णराज (नित्वा कृत्स्नां येन पृथ्वीमपूर्व्वंकीर्तिस्तम्भद्वन्द्वमारोप्यतेस्म। कौम्भोद्भव्यान्दिश्यसौ कृष्णराजः कौवेर्याञ्च श्रीनिधिर्भोजदेवः) एफिग्राफिया इण्डिका, जिल्द १ पृ० २५६) यशस्तिलक चम्पू की समाप्ति के समय जो दक्षिण में कृष्णराज है वह तीसरा है क्योंकि अरिकेशरी के प्रथम पुत्र वद्दिग के साथ उसीका मेल खाता है न कि अन्य किसी कृष्णराज का। इसका राज्यकाल वि० सं० ९९३ से १०२२ तक रहा है ऐसा हम पहिले ही लिख आये हैं तब इनकी समकालीनता न तो कोक्कल से बनती है और न कन्नोज के भोज से क्योंकि भोज (आदिवराह मिहिर) का राज्यकाल वि० सं० ९३८ तक ही समाप्त हो जाता है। भोज की क्या, उसकी तो महेन्द्रपाल (निर्भयनरेन्द्र) के साथ भी संगति नहीं बैठती क्योंकि इसका राज्यकाल भी वि० सं ९६४ में ही पूर्ण हो जाता है। अत यशस्तिलक की समाप्ति के समय महेन्द्रपाल था न कि और। इस विवरण से हमारा मन यह नतीजा निकालता है कि श्री सोमदेव सूरि, धवला के टीकाकार वीरसेनाचार्य तथा पं० आशाधर जी के समान ही दीर्घवयी थे और संभव है कि ९० वर्ष के ऊपर भी वय का भोग उन्होंने किया था। दक्षिणापथ से उत्तरापथ आने के समय उनकी वय ४० के लगभग होनी चाहिये। इसके उपरान्त ही उन्होंने यशस्तिलकचम्पू पाँचवें आश्वास तक तथा नीतिवाक्यामृत की रचना की। यह समय प्रथम महेन्द्रदेव तथा महिपाल का था। महेन्द्रदेव के गुरु राजशेखर के साथ उनकी अवश्य मित्रता होगी। महेन्द्रदेव और महिपाल जैन न होते हुए भी जैनधर्मानुरागी अवश्य थे। तभी जैनाचार्यों ने तथा जैनों ने जैनग्रंथों और मन्दिरों व मूर्तियों में उनका उल्लेख किया।

जब आचार्य उत्तरापथ से दक्षिणापथ चले आये तब उन्होंने छठे आश्वास से समाप्यन्त यशस्तिलकचम्पू पूरा किया और नीतिवाक्यामृत का सम्भवतः पुनः संशोधन भी। यह समय वद्दिग तथा कृष्णराज तृतीय का था उत्तर भारत में उस समय द्वितीय महेन्द्रदेव या देवपाल का शासन था। हमारी समझ में ऐसी संगति बैठती है। पाठक इस पर विचार करेंगे।

कन्नोज के प्रतिहार वंशीय राजाओं के जो दानपत्र या शिलालेख हमें अब तक ज्ञात हुए हैं उनका विवरण नीचे लिखे अनुसार है :—

प्रथम शिलालेख राजशाही की वारीन्द्र सुसायटी द्वारा खुदाई करने पर पहाड़ पर मिला है। यहाँ पहिले कोई मन्दिर था। इस खुदाई में दो खम्भे लेख सहित मिले हैं जिनमें से एक में प्रतीहारवंशीय राजा महेन्द्रपाल के राज्यारोहण से पांचवें साल का है। दूसरा सीरौन (जिला झाँसी ललितपुर डिवीजन) के दिगम्बर जैन मंदिर में है, बहुत बड़ा है। शिलालेख में प्रतिहार वंशीय महाराजा महेन्द्रपाल के नाम के साथ "सम्वत्सरशतेषु नवसु

पञ्चाधिकेषु चतुरन्वितेषु मार्गशिरमास बहुलपक्ष तृतीयाम्" खुदा हुआ है। जिसका अर्थ है महाराजा महेन्द्रपाल के राज्यकाल में वि० सं० ९६४ मार्गशिर वदी ३। तीसरा हड्डाला (काठियावाड़) में मिला है। जो कि दानपत्र के रूप में है इसमें कन्नौज के प्रतिहार राजा महिपालदेव के सामन्त धरणी वराह का शक सं० ८३६ (वि० सं० ९७१) पौष वदी ४ उत्तरायणे खुदा हुआ है।

उक्त भोजदेव (प्रथम) के पाँच लेख अब तक उपलब्ध हुए हैं जिनमें सब से प्रथम दौलतपुरा (जोधपुर राज्य) से मिला हुआ वि० सं० ९०० फाल्गुन सुदी १३ का ताम्रपत्र है जो राजपूताना म्युजियम (अजमेर) में सुरक्षित है।

ग्वालियर में मिले हुए कन्नौज के प्रतिहार राजा भोजदेव के शिलालेख में "त्रयस्त्रिंशदधिकेषु माघशुक्ल द्वितीयायाम्" अर्थात् वि० सं० ९३३ माघ सुदी २ मिलता है।

उसका सब से पिछला शिलालेख पेहोवा से मिला है, जो हर्ष सं० २७६ (वि० सं० ९३८) वैशाख सुदी ७ का है। इन तीनों शिलालेखों से निश्चित है कि वि० सं० ९०० से ९३८ तक तो कन्नौज का स्वामी भोजदेव था और सम्भव है कि वि० सं० ९३८ के पीछे भी कुछ वर्षों तक जीवित रहा हो।

श्रद्धेय ओझा जी के राजपूताना इतिहास से उद्धृत कर बम्बई से श्रीयुत पं० प्रेमी जी ने कृपाकर कन्नौज के प्रतिहार वंशीय कुछ राजाओं की जो नामावली भेजी है उसे भी हम उद्धृत करते हैं।—

(१) नागभट या नागावलोक वि० सं० ८१३ (२) काकुस्थ (३) देवराज (४) वत्सराज वि० सं० ८४० (५) नागभट द्वितीय वि० सं० ८७२ से ९० (६) रामचन्द्र (७) भोज (आदिवराह मिहिर) वि० सं० ९०० से ३८ तक (८) महेन्द्रपाल (महेन्द्रायुध, निर्भय-नरेन्द्र) वि० सं० ९५० से ६४ (९) महीपाल वि० सं० ९७१-७४ (१०) भोज द्वितीय (११) विनायकपाल वि० सं० ९८८ (१२) महेन्द्रपाल द्वितीय वि० सं० १००३ (१३) देवपाल वि० सं० १००५ (१४) विजयपाल वि० सं० १०१६ (१५) राज्यपाल वि० सं० १०७५ (१६) त्रिलोचन पाल वि० सं० १०८४ (१७) यशपाल वि० १०९३।

इन विवरणों को पढ़कर पाठक स्वयं इस निर्णय पर पहुँचेंगे कि यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृत के कर्ता के साथ प्रथम महेन्द्रदेव का अवश्य घनिष्ठ सम्बन्ध था पर इसकी संगति तभी बैठ सकती है जब कि श्री सोमदेवसूरि को दीर्घजीवी माना जाय।

अस्तु इसके बाद आचार्य उत्तरापथ से फिर दक्षिणापथ को लौट गये और वहाँ उन्होंने यशस्तिलकचम्पू के अन्तिम तीन आश्वास जिनमें उपासकों के आचार का वर्णन है, पूर्ण किये। इसके बाद आचार्य ने सम्भव है नीतिवाक्यामृत को यह सुसम्हृत रूप दिया जिसको कि हम देख रहे हैं।

आचार्य को वहाँ के संघर्ष पसन्द नहीं थे वे जानते थे कि वैदिक ब्राह्मणों की आजीविका वेदों पर ही निर्भर है उनके बिना समाज में उनका स्थान ही क्या रहता है। अतः जनता में उनके प्रति अटल विश्वास जमाये रखने के लिए वे उन्हें भगवत् वाक्य उद्घोषित करते थे। इधर जैन लोग हिंसा से बड़ी घृणा करते थे वे मूढ़ जनता में होती हुई हिंसा का कारण इन्हीं वेदों को मानते थे अतः वे वेदों को पसन्द नहीं करते थे। एक पक्ष आजीविका का प्रधान कारण समझ कर उन्हें प्यार करता था तो दूसरा पक्ष हिंसा के कारण उन्हें कुप्यार करता था। लोकमान्य सार्वजनिक ग्रन्थ भी साम्प्रदाय दोष से हेय हो रहे थे। इसके लिए आचार्य ने जो समझौता अपने मन में तैयार किया था वह अब यहाँ आकर यशस्तिलक के उपासकाध्ययन में लिखा और अपने भक्त श्रावकों को उनके द्वारा समझाया कि यदि वैदिक ब्राह्मण लौकिक रीतियाँ वेद के अनुसार करते हैं अपनी आजीविका चलाते है या जनता उसमें रुचि प्रगट करती है तो करने दो यह तो उनका कुल परम्परा का कार्य है इसमें हमारी क्या हानि है। इसमें न धर्म है न अधर्म, यह तो लौकिक कार्य है। इधर दूसरे पक्ष के वैदिक लोगों को भी उन्होंने समझाया कि आप लोग भी सारे वेद को प्रमाण न मानें जो बातें प्रमाण और युक्ति से विरुद्ध हैं या जिनमें पूर्वापर विरोध है उन्हें छोड़ देवें। वेद भी मनुष्यकृत ही है भले ही उनके कर्त्ताओं को हम नहीं जानते हैं, पर वे ईश्वरकृत नहीं है क्योंकि ईश्वर का ज्ञान असीम है वह इन सीमित पुस्तकों में नहीं आ सकता। अतः वेद ऐतिह्य है जैसे अन्य धर्मों के अन्य शास्त्र।

यशस्तिलक के चतुर्थ आश्वास में आचार्य लिखते है :—

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं,
काले शक्त्याप्रदेयं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम्।
तृष्णास्रोतोविबन्धोगुरुषुच विनतिः सर्वभूतानुकम्पा,
सामान्यं सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेषमार्गः॥

इसका अर्थ यह है कि प्राणी हिंसा निवृत्ति, परधन का हरण नहीं करना, सत्यवचन बोलना, समय पर यथाशक्ति दान देना, पराई स्त्री में कुदृष्टि नहीं रखना, उनकी निन्द्यचर्चा नहीं करना, परिग्रह परिमाणव्रत रख कर तृष्णा के ऊपर नियंत्रण रखना, गुरुजनों की विनय और सर्व भूतानुकम्पा ये सब ऐसे शुभाचार है कि इनका पालन करना किसी भी धर्म के किसी भी शास्त्र में मना नहीं है। सर्वसम्मति से निश्चित कल्याण मार्ग है अतः एकमत होकर हम सब को इसी मार्ग पर चलना चाहिए इसी में हम सब की भलाई है इसमें किसी का विरोध भी नहीं है।

——:०:——

हुंबुज का ग्रन्थभाण्डार

[ले० श्रीयुत विद्याभूषण, पं० क० भुजबली शास्त्री मूडबिद्री]



बहुत दिनों से विद्वानों की यह प्रबल इच्छा रही कि हुंबुज जैन मठ के ग्रन्थागार के ताड़पत्र एवं कागज पर लिखे गये भिन्न भिन्न भाषा के कुल ग्रन्थों को एकबार बारीकी से अवलोकन किया जाय। क्योंकि अन्यान्य जैन मठों की तरह यह भी प्राचीन है और यहां पर कुछ अलभ्य एवं दुर्लभ्य प्राचीन ग्रन्थों की प्राप्ति की अधिक संभावना है। परंतु कारणवश अभी तक इस पवित्र कार्य के लिये सुयोग ही प्राप्त नहीं हुआ था।

बड़े हर्ष की बात है कि वर्तमान विद्वान् भट्टारक श्रद्धेय श्री देवेंद्रकीर्तिजी के सिंहासनारूढ़ होते ही सर्वप्रथम आपका लक्ष्य इसी आवश्यक लोककल्याणकारी, पुनीत कार्य की ओर गया और तुरत ही आपने इस कार्य के लिये मुझे याद किया। भट्टारकजी की आज्ञानुसार डेढ़ दो माह हुंबुज में रह कर द्राविड़ लिपि में लिखे गये कुछ ग्रन्थों को छोड़ कर शेष कन्नड़ तथा नागरी लिपि में लिखे गये कुल ग्रन्थों को मैंने अन्य सहायकों के साथ यथाशक्ति और यथा अवकाश सावधानता से देखा।

इस बीच में हम लोगों ने ७०२ बण्डल और ३५४ ग्रन्थों की सविवरण तालिका तैयार की है जो कि यथाशीघ्र आरा मठ की ग्रन्थतालिका के साथ प्रकाशित होने वाली है। ग्रन्थ तालिकानिर्माण के समाचार से अवगत होते ही मित्रवर डॉ० ए० एन० उपाध्ये आदि विद्वानों के पत्र आये कि ग्रन्थागार के अवलोकन के उपरांत शीघ्र ही इस संबंध में 'जैन सिद्धान्त भास्कर' में आप एक लेख अवश्य प्रकट कर दें। इसी आशयानुसार 'भास्कर' के विज्ञ पाठकों के समक्ष भाण्डार में उपलब्ध कुछ अप्रकाशित प्राकृत, संस्कृत तथा कन्नड़ ग्रन्थों की एक तालिका और कुछ प्रशस्तियाँ नीचे दी जाती हैं।

नं०	ग्रन्थनाम	कर्त्ता	विषय	भाषा
१	आस्रवसत्तित	श्रुतमुनि	सिद्धांत	प्राकृत
२	तत्त्वार्थसारदीपक	सकलकीर्ति	,,	संस्कृत
३	द्रव्यसंग्रहटीका	बालचंद्र	,,	कन्नड़
४	परमागमसारटीका	चंद्रकीर्ति	,,	,,
५	[1]द्रव्यसंग्रहटीका	मुनिदरवर्णी	,,	,
६	सिद्धांतसारटीका	प्रभाचंद्र	,,	संस्कृत

१ इसका नाम 'भावनासार' है।

७	गोम्मटसारटीका	पद्मप्रभ त्रैविद्य	सिद्धान्त	कन्नड
८	,,	केशवण्ण	,,	,,
९	तत्त्वार्थवृत्ति	दिवाकरनंदी	,,	भाषा
१०	आत्मानुशासनटीका	केशवार्य	अध्यात्म	संस्कृत
११	जीवसंबोधन	बंधुवर्मा	,,	कन्नड
१२	परमात्मप्रकाशटीका	बालचंद्र	अध्यात्म	कन्नड
१३	पंचपरमेष्ठिस्वरूप	श्रीनंदी	,,	,,
१४	षट्समाचारलक्षण	×	,,	संस्कृत
१५	[२]उपदेशरत्नमाला	सकलभूषण	आचार	,,
१६	प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण	कुमुदचंद्र	प्रतिष्ठा	,,
१७	जिनसंहिता	एकसंधि	,,	,,
१८	,,	ब्रह्मसूरि	,,	,,
१९	मृत्युञ्जयाराधना	×	आराधना	,,
२०	सहस्रनामाराधना	×	,,	,,
२१	न्यायमणिदीपिका	×	न्याय	,,
२२	प्रमाणप्रमेयकलिका	नरेंद्रसूरि	,,	,,
२३	प्रमाप्रमेय [अपूर्ण]	भावसेन त्रैविद्य	,,	,,
२४	लघीयस्त्रयवृत्ति	अभयचंद्र	,,	,,
२५	विश्वतत्त्वप्रकाश	भावसेन त्रैविद्य	,,	,,
२६	मंत्रव्याकरण	समंतभद्र	व्याकरण	,,
२७	रूपावतार	[३]धर्मकीर्ति	,,	,,
२८	रूपावतारवृत्ति	[४]वीरसेन	व्याकरण	संस्कृत
२९	शाकटायन अमोघवृत्ति	शाकटायन	,,	,,
३०	चंद्रप्रभटीका	×	काव्य	,,
३१	यशोधरटीका	लक्ष्मण	,,	,,
३२	राघवपाण्डवीयटीका	सूरि	,,	,,
३३	कर्णामृतपुराण	विजयकीर्ति	पुराण	हिंदी

२ इसका अपर नाम 'गुणषट्कर्मप्रकाशिका' है। कर्ता सकलभूषण शुभचंद्र के शिष्य हैं।

३ यह नाम 'जिनरत्नकोश' के आधार पर दिया गया है।

४ यह भैरवेश का आस्थान कवि था।

३४	आदिपुराण	हस्तिमल्ल	,,	संस्कृत
३५	,	सकलकीर्ति	,,	,,
३६	*द्वादशपुराण	×	,,	कन्नड़
३७	जंबूस्वामिचरित	जिनदास	चरित	संस्कृत
३८	ज्ञानचन्द्रचरित	कल्याणकीर्ति	,,	कन्नड़
३९	सुविचारचरित	नेमण्ण	चरित	कन्नड़
४०	नागिकथाए	×	कथा	,,
४१	मरणकालज्ञान	×	ज्योतिष	संस्कृत
४२	†भैरवपद्मावतीकल्प	मल्लिषेण	मन्त्रशास्त्र	,,
४३	†विद्यानुवाद	मतिसागर	,	,
४४	त्रिभुवनचूडामणि	×	लोकविज्ञान	कन्नड़
४५	उपन्यास	×	समीक्षा	संस्कृत
४६	आदीश्वरयक्षगान	×	गीत	कन्नड़
४७	पद्मावतीयक्षगान	×	,,	,,

१. ग्रंथ नं० १७७, शाकटायन अमोघवृत्ति—शाकटायन।

जम्बूद्वीपमहीशहेममुकुटप्रोत्तुंगदेनाचल-
प्रांचद्दक्षिणभारतावनिमतीताटकशृत्ताकृति।
अस्ति क्षेमपुरं पुरंदरपुरीमोदर्यगर्वापहं
देवश्री नृपति प्रशास्ति तदिदं देवेंद्रवृंदोपमः ॥१॥
तद्भागिनेयपदभागतुलप्रतापदावाग्निदग्धरिपुभूरुहभूरिवंशः।
सत्कीर्तिफुल्लतितमण्टितनडमल्लः प्रोत्फुल्लगल्ललितोऽस्ति हि साल्वमल्लः ॥२॥
श्रीमज्जैनमतोदयाचलकनद्बालार्कनिर्वोजित
स्फूर्जत्कीर्तिसुधाप्रवाहधवलत्रैलोक्यसौधालयः।
नानाशास्त्रकलाकलापकुशलः प्रत्यर्थिपृथ्वीपति-
प्रोत्तुंगाद्रिततीन्द्रवज्रसदृशः श्रीमाल्वमल्लोऽस्ति सः ॥३॥
तस्य प्रधानपुरुषः पुरुषोत्तमश्री श्रीजैनमार्गगगनांगणबालभानुः ॥
सम्यक्त्वचंद्रिसुधाशुचिचारुचेताः चामाति भासुरवचाः ॥४॥

* यह षट्पदि छन्द में है।
† यह प्रकाशनीय है। ग्रंथ सटीक एवं शुद्ध है।

घनतरमरुमार्गे सारकासारपूरः तततिमिरनभोढप्रौढपायुप्रभानुः ।
दववदहनवृतोर्वीजातपाथोदकल्पः कलयति बुधवृंदं बंधुरः संगमंत्री ॥५॥
अथास्मिन् देशे गणपूर्वशैले दिगंबरस्फारमहाप्रभावः ।
व्यराजत प्राग्विजयादिकीर्तिस्तदग्रशिष्यः श्रुतकीर्तिदेवः ॥६॥
तत्पूर्वशिष्यो विमलादिकीर्तिस्तस्मादभूदिंदुरिवामृताब्धेः ।
सुसंयमाचारविशुद्धमूर्तिः प्रबुद्धशास्त्रो विजयादिकीर्तिः ॥७॥
तस्मै विशुद्धचिदमोघमनोज्ञवृत्तिं प्रादान्मुदा विजयकीर्तिमुनीश्वराय ।
सत्कीर्तये विमलपुण्यमहाधनाय बोधाय मल्लनृपतेर्वरसंगमंत्री ॥८॥
श्रीमदुंदुभिवत्सरे सुखकरे चाषाढमासे वरे
पक्षे चंद्रमरीचिमंडिततले श्रीद्वादशीसत्तिथौ ।
वारे शुक्रसमाह्वये विजयकीर्त्यार्याय धैर्यालयः
प्रदात्प्रांचदमोघवृत्तिमतुलां ज्ञानाप्तये संगमः ॥९॥
शुभकरवरमूर्तिः स्फारचारित्रपूर्तिः प्रशमितभुवनार्तिश्चारुचंद्राभकीर्तिः ।
श्रुतिजितमदनार्तिः सद्दयासारपूर्तिर्विनुतविजयकीर्तिर्भासते पुण्यमूर्तिः ॥१०॥
सद्धर्माम्बुधिपोषकः कुवलयानंदाय नित्योदयः
सद्वृत्तो मुखसंगतिद्रवदति (?) स्वच्छेंदुकांतो व्यधात् ।
चित्रं शत्रुपकीर्तिघोरतिमिरप्राग्भारनीलाचलं
नापच्छारदपार्वणाखिलकलः श्रीसाल्वमल्लो विधुः ॥११॥
श्रुतविनुतविनोदः पात्रदानानुमोदः परहितकृतिशीलः सद्यशः श्रीविशालः ।
समुपचितसुपुण्यः सज्जनौघाग्रगण्यः स जयतु कुलदीपः संगमः कामरूपः ॥१२॥

[अंतिम अंश]

ग्रंथ नं० १८० गोम्मटसार [कर्मकाण्ड] कन्नडटीका—केशवण्ण ।

श्रीमद्वंशसमुद्भवाः प्रविलसद्वृत्तोज्ज्वला निर्मलाः
प्रांचत्कांतिभराः सदाप्तरुचयो भव्याः सुसेव्याः सताम् ।
एते लोकशिरोमणित्वमधिकं संप्राप्य मुक्तोपमाः
भांतु स्वात्ममलामृतोदयभवैर्भास्वद्गुणैर्भूषिताः ॥१॥
श्रीसर्वज्ञसुबोधवज्रतलभाक् स्यात्कारधीरोद्धुरो
गंभीरो वरनेमिचंद्रविसरद्वाक्चंद्रिकावर्द्धितः ।

निस्तीर्णो गुणरत्नभूषणभरः सारार्थपूर्णो महान्
नित्य गोम्मटसारगद्दितसुधाम्भोधि शिवायास्तु नः ॥२॥

[अंतिम अश]

ग्रंथ नं० २०२, यशोधरकाव्यटीका—लक्ष्मण ।

वादिराजकृतकाव्यभावन माधुर्जेनमुनिपादसेवनम् ।
वीतरागचरणाब्जलोकन ग्रीतयेऽस्तु मम जन्मजन्मनि ॥१॥
श्रीमत्पद्मगुणगुम्मटेन्यमिमता ग्रावर्णिना भूतले
भातिचारु [?] चरित्रवाद्धिहिमगुस्तत्प्रीतने लक्ष्मण ।
मन्दो नन्धुरवादिराजनिदप काव्यस्य कल्याणद.म्
टीका क्षेमपुरेऽकरोद्गुरुतरश्रीनेमिनाथालये ॥२॥

[अंतिम अ श]

ग्रंथ न० १७४, पद्मचरित—रविषेण ।

कल्याणोत्तमप्रमन्दिरे सममकल्याणनाम्ना पुरे
विख्याते शुभचन्द्रदेवमुनिपश्रीपादसेवारतः ।,
साहित्याम्बुजषट्पद क्षितिगतः कल्पद्रुमो वादिनाम्
तिप्पिश्रेष्ठितनूभवो हरिहरः सम्यक्त्वरत्नाकर ॥१॥
तेन श्रीमदणेपशास्त्रनिपुणप्रज्ञाय कल्याणकी-
र्त्याचार्यप्रवराय पद्मचरित पद्मावह सर्वदा ।
श्रोतॄणा भवतु सभीतमनसा स्याल्लेखयित्वा पितम्
लोकालोक नस्तुकलनप्रौढावबोधाप्तये ॥२॥

[अ निम अ श]

ग्रंथ नं० ३८, पूर्वपुराण—जिनसेन ।

दर्वारमारारिविभेददक्षश्रीशान्तणार्यो त्तमवर्णिना मुदा ।
दत्त नितान्त सुचिर सुजीयात् सुज्ञानद पूर्वपुराणमेतत् ॥१॥
श्रीमद्म्मोलिमूद्वन्द्यो गणभृद्भक्तिभावित ।
जीयाच्छान्तिजिनाधीशः कौणपरुपुराधिप ॥२॥

[अंतिम अश]

ग्रंथ नं० १६, त्रिलोकसारटीका—माधवचन्द्र ।

तत्र [कारंजामहाधर्मक्षेत्रे] श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्रीअमरकीर्तिदेवास्तदनुक्रमेण भ० श्रीधर्मचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीधर्मभूषणदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीविशालकीर्तिदेवास्तत्पट्टे श्रीधर्मचन्द्रदेवास्तेषु विद्यमानेषु ब्रह्मगुणसागराय बघेरवालवंशे चामरीयागोत्रे साजस्सा, तद्भार्या बाई गंगाई, तयोः सुतः पुतलासा, तद्भामिनी ऐसा बाई, तयोः पुत्रः सर्वोपमायोग्यः साहिरासा, तत्प्रिया मालाई, तयोः सूनू द्वौ पुतलासा वर्धसा नामानौ, तयोर्मध्ये ज्येष्ठो धर्मभारधुरंधरः पुतलासाख्यस्तेनेयं त्रैलोक्यसारमहाग्रंथटीका ज्ञानावरणकर्मक्षयार्थं लिखाप्य दत्ता ।

[अंतिम अंश]

तारण स्वामी और उनके उपदेश

[ले० श्रीयुत ज्ञानचन्द्र जैन बी० ए०, एल० एल० बी० नागपुर]

अध्यात्मवाद के सिद्धान्तों का प्रचार करने वाले अनेक विद्वान् समय समय पर हुए हैं। इन्होंने काल के मांग की पूर्ति की और मानव धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार किया। पन्द्रहवीं शताब्दी में भारतवर्ष में एक धार्मिक क्रान्ति मची हुई थी। मुसलमानों के शासन काल में धर्म का पालन करना एक कठिन कार्य हो गया था। आवश्यकता ऐसे महात्माओं तथा सुधारकों की थी जो भगवान महावीर के सार्वभौमिक सिद्धान्तों का प्रचार कर प्राणीमात्र का कल्याण कर सकें। भगवान महावीर के निर्वाण काल के बाद अनेक आचार्यों तथा महात्माओं ने इन सिद्धान्तों का प्रचार किया और ऐसे अमूल्य ग्रन्थों की रचना की जो विश्व-साहित्य-गगन में हमेशा चमकते रहेंगे और अपने जाज्वल्यमान प्रकाश द्वारा मानव मात्र का उद्धार करेंगे। उस समय भारतवर्ष में जैन धर्म का बहुत प्रचार था। राजा और महाराजाओं ने भी उसे अपनाया था और उनके संरक्षण में भी उसका प्रचार हुआ। परन्तु कुछ समय के बाद जैन विद्वानों ने धर्म को इतना सकुचित बना दिया कि उसमें बाहर से आने वालों के लिये कोई स्थान नहीं रहा। ऊँच नीच का भेद फैल गया। फलतः मानव मात्र का कल्याण करने वाला जैनधर्म कुछ लोगों की ही सम्पत्ति बन गया। अन्य धर्मों का प्रचार हुआ परन्तु जैन धर्म का क्रमशः ह्रास ही होता गया। यह क्रम कई वर्षों तक चलता रहा और जैन धर्मानुयायियों की संख्या घटती ही गई। उस समय आवश्यकता ऐसे महात्माओं की थी जो समस्त भेदभाव मिटा कर, जैन धर्म का विशाल द्वार सबके लिये खोल दें।

पन्द्रहवीं शताब्दि में तारण स्वामी नाम के एक आचार्य और सुधारक हो गये हैं। उनका जन्म पुहुपावती नगरी में सन् १४४८ (विक्रम संवत् १५०५) में हुआ था। आप सन्त कबीर, गुरु नानक, लोंकाशाह तथा अन्य सुधारकों के समकालीन थे। स्वामी जी के पिता का नाम गढ़ासाव था। ये बहलोलशाह लोधी के दरबार में जो कि उस समय देहली के बादशाह थे किसी ओहदे पर थे। बाद में कुछ कारणवश वे देहली छोड़ पुहुपावती नगरी में बस गये। वहीं पर ही स्वामी जी का जन्म हुआ। बाल्यकाल से ही आपके होनहार होने के लक्षण दिखलाई देते थे। आपकी स्मरण शक्ति बहुत तीव्र थी। आपकी शिक्षा श्री श्रुतसागर मुनि के पास हुई। अल्पकाल में ही आपने बहुत से ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया। आप आजन्म ब्रह्मचारी रहे तथा महान अध्यात्मवादी तथा योगाभ्यासी थे। आप धर्म के बाह्य आडम्बरों को पसन्द नहीं करते थे और इसी कारण आपने मूर्तिपूजा का विरोध किया।

यदि हृदय पवित्र भावना से रिक्त है तो जड़ पूजा से क्या लाभ होगा। वास्तव में आत्मा ही सब कुछ है। वह ही परमात्मा है यदि हम उसे उस योग्य बना लें। आपने कहा कि जैन धर्म मे समस्त प्राणियों के लिये स्थान है, वह सबका कल्याण करने वाला है। भगवान महावीर के समवशरण मे पशु-पक्षियों तक को स्थान प्राप्त था। सत्त्वेषु मैत्री का पाठ पढ़ाने वाले जैनधर्म में नीच, ऊच का भेद कभी भी नहीं हो सकता।

इन सब सिद्धान्तों को लेकर स्वामी जी ने फिर से धर्म प्रचार का बीड़ा उठाया। आपने भगवान महावीर की संघ योजना का अनुसरण किया।

उस समय के संकीर्ण हृदय वाले लोगों को आपके ये सिद्धान्त पसन्द न आये। उन्होंने स्वामी जी का विरोध किया। आपको कई प्रकार के प्रलोभन दिये गये, दबाव भी डाले गये कि आप इस प्रकार का प्रचार न करें परन्तु जब स्वामी जी अपने मार्ग से विचलित न हुए तो आपको मार डालने का भी प्रयत्न किया गया। मल्हारगढ़ किले के पास बेतवा नदी है उसके आसपास घने जंगल हैं। स्वामी जी इन्हीं जंगलों में निवास करते थे, क्योंकि वे सामायिक तथा ध्यान के लिये उपयुक्त स्थान थे। इस नदी के घाट से पार उतारने वाले मल्हा को जिसका नाम चिदानन्द चौधरी था, यह कहा गया कि वह स्वामी जी को अपनी नाव में बैठा कर नदी के गहरे जल में ले जाकर छोड़ दे। उसने ऐसा ही किया और एक के बाद एक तीन गहरे स्थानों में ले जाकर स्वामी जी को डुबाने का प्रयत्न किया परन्तु जहां २ आपको डुबोने के लिये नाव उलटाई गई वहां २ पर पानी के बीच स्वामी जी चबूतरे पर बैठे पाये गये। यह आश्चर्य जनक घटना देखकर चिदानन्द ने समझा कि स्वामी जी को अवश्य ही कोई महात्मा होना चाहिये और उसे अपने कार्य पर पछतावा हुआ। उसी दिन से चिदानन्द स्वामी जी का शिष्य बन गया। ये चबूतरे अभी भी बेतवा नदी के बीच मौजूद हैं और तारण पंथियों द्वारा पवित्र माने जाते है। प्रतिवर्ष हज़ारों यात्री इन चबूतरों के दर्शनों को जाते हैं और स्वामी जी के प्रति अपनी श्रद्धांजलियां अर्पण करते हैं।

धीरे २ स्वामी जी का विरोध घटने लगा। आप निर्भय होकर अपने मिशन में लगे रहे। आपने मध्यभारत, गुजरात, संयुक्तप्रान्त और मध्यप्रान्त का भ्रमण किया और अनेक लोगों में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। बहुत से राजाओं ने भी जैन धर्म के सिद्धान्तों को अपनाया। इनमें गुजरात के राजा शिवकुमार, शाहकुमार तथा रायसेन गढ के राजा मुख्य थे। इस तरह अपने जीवन में आपने ५५३५१९ व्यक्तियों को अपने आम्नाय में दीक्षित किया। आपके शिष्य भी अनेक हो गये। इनमे मुख्य चिदानन्द चौधरी, लक्ष्मण पाण्डे, परमानन्द विलासी, सुल्य शाह तेली और लुकमान शाह नाम के मुसलमान भी थे। स्वामी जी की मृत्यु के बाद उनके अनुयायियों ने इस सम्प्रदाय को तारण पंथ नाम से घोषित

किया और वे तारण पंथी कहलाने लगे। इस पंथ के मानने वालों में छह जातियां शामिल हैं, इनके नाम ये हैं —चरणागार, समैया, असेठी, अयोध्या वासी, गालापूरब और दोसके। ये समस्त जातियां एक हो गई हैं और उनमें रोटी बेटी व्यवहार होता है।

स्वामी जी द्वारा रचित ग्रन्थ

तारण स्वामी ने कुल १४ ग्रन्थों की रचना की है। ये ग्रन्थ पन्द्रहवीं शताब्दि में प्रचलित संस्कृत हिन्दी मिश्रित भाषा में है। बहुत समय तक इन ग्रन्थों की टीका तथा प्रकाशन की ओर ध्यान नहीं दिया गया परन्तु बाद में स्वर्गीय श्री ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी ने इस कार्य को अपने हाथ में लिया और ९ ग्रन्थों की टीकाएं सरल हिन्दी भाषा में कीं। ये ग्रन्थ जैन मित्र कार्यालय सूरत से प्रकाशित भी हो गये हैं। बाकी ५ ग्रन्थों का टीका तथा प्रकाशन का कार्य अभी बाकी है। सारे ग्रन्थों में अध्यात्मवाद और जैन सिद्धान्तों का सुन्दर विवेचन किया गया है और उनमें आत्मा से परमात्मा बनने का मार्ग बतलाया गया है। उन सब में निश्चय नय की प्रधानता है। ग्रन्थों के नाम ये हैं —

१ श्रावकाचार, २ मालाजी, ३ पंडित पूजा, ४ कमल बत्तीसी, ५ न्याय समुच्चयसार, ६ उपदेश शुद्ध सार, ७ त्रिभंगी सार, ८ चौबीसठाना, ९ ममल पाहुड़ १० सुन्न स्वभाव, ११ सिद्ध स्वभाव १२ ज्ञानपिंड विशेष, १३ छद्मस्थ वाणी, १४ नाममाला।

निर्वाण हुण्डी ग्रन्थ के १२ वें श्लोक में जिसकी रचना तारण स्वामी की मृत्यु के बाद किसी शिष्य द्वारा हुई है, यह कहा गया है कि स्वामी जी ने ग्रन्थ रचना का कार्य माघ सुदी ५ संवत् १५६३ को समाप्त किया। छद्मस्थवाणी ग्रन्थ की अन्तिम कारिका में लिखा है कि 'थाना मैंने लिख प्रवेश दिये लेहुरे बड़े प्रिय प्रमाण भ्रुव" अर्थात् जो ग्रन्थ मैंने लिख दिया है उन्हें प्रमाण मान उनका उपयोग करो। समस्त ग्रन्थों में कथन जैनाचार्यों के अनुकूल हैं।

निर्वाण काल

स्वामी जी का निर्वाण काल सन् १५१५ (ज्येष्ठ सुदी ६ दिन शुक्रवार विक्रम संवत् १५७२) है और आपका देहावसान श्री निसई क्षेत्र (मल्हारगढ़) में हुआ। उस समय इस क्षेत्र पर स्वामी जी के ५००० शिष्य एकत्रित हुए थे। मृत्यु के पूर्व स्वामी जी ने सब शिष्यों को धर्मोपदेश दिया।

स्वामी जी के जीवन से सम्बन्धित पवित्र स्थान

श्री निसई जी (मल्हारगढ)

यह स्थान ग्वालियर स्टेट में मल्हारगढ़ के किले के पास बेतवा नदी के तट पर स्थित है। यह बीना कोटा लाइन के मुंगावली स्टेशन से ६ मील की दूरी पर है। यहां पर प्रतिवर्ष

हजारों की तादाद में तारण पंथी यात्री आते हैं। यहां पर सुरम्य वन के बीच बड़े २ मन्दिर बने हुए हैं। बेतवा नदी के तट पर स्वामी जी के सामायिक करने का चबूतरा भी स्थित है। स्वामी जी के जीवन का अधिक भाग मल्हारगढ़ में ही बीता और उनका देहावसान भी यहां ही हुआ।

श्री सेमर खेडी

यह मध्यभारत की रियासत टोंक की सिरोंज तहसील में जंगलों के बीच स्थित है। यहां पर भी बड़े २ मन्दिर बने हुए हैं। स्वामी जी इन्हीं जंगलों में सामायिक करते थे, और ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने मुनि पद की दीक्षा यहां पर ली थी।

श्री सूखा निसई

यह स्थान मध्यप्रान्त के दमोह डिविजन में पथरिया स्टेशन से ७ मील दूर स्थित है। यह एक अतिशय क्षेत्र है। यहां पर स्वामी जी ने कुछ काल निवास किया था और आसपास के लोगों को उपदेश दिया था। यहां ४०० वर्ष पुरानी विशाल वापिका है और बगीचे के चारों ओर पक्का परकोटा है। खोज करने पर और भी प्राचीन बातें सामने आ सकती हैं।

नोट:—तारण स्वामी छद्मस्थ ज्ञानी थे, इस कारण मूर्त्ति पूजा की महत्ता को बिना समझे ही उसका उन्होंने खण्डन किया है। यदि वे गम्भीरता से विचार करते तो उन्हें अध्यात्मवाद के समान उसकी उपयोगिता भी मालूम पड़ जाती। जहाँ स्वामी जी ने अनेक सुधार के कार्य किये वहाँ उनसे एक गलती यह हो गई। —नेमिचन्द्र शास्त्री

भावदेवसूरि एवं लाहौर के सुलतान सम्बन्धी विशेष ज्ञातव्य

[लेखक—श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा]

जैनसिद्धान्तभास्कर की गत किरण में श्री मूलराज जैन का "भावदेवसूरि का भक्त लाहौर का सुलतान" शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें जीराभंडार से प्राप्त भावदेवसूरि-रास की प्रति के आधार से एतद्सम्बन्धी इतिवृत्त दिया गया है। करीब ६ वर्ष हुए हमें इस रास की पूर्णप्रति[1] बीकानेर राज्य की अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में उपलब्ध हुई थी हमने उसका संक्षिप्तसार भी मुनिमाल रचित बृहद्गच्छ गुर्वावली (विशेष वृत्तांत) के साथ जैनसत्य प्रकाश को प्रकाशनार्थ भेजा था पर संपादक जी ने उसमें से गुर्वावली को ही (वर्ष ७ अ० ५) प्रकाशित किया। राससार एवं विशेष वृत्तान्त उन्होंने प्रकाशित नहीं किया अतः इतने वर्षों पहले लिखे जाने पर भी यह वृत्तांत अद्यावधि प्रकाश में नहीं आ सका। समय समय पर उसे प्रकाशित करने की अन्तः प्रेरणा होती रही पर अन्य कार्यों में व्यस्त रहने आदि के कारण वह कार्य यों ही पड़ा रहा और अब श्रीमूलराज के लेख ने उसे शीघ्र ही प्रकाशित करने का सुयोग उपस्थित कर दिया। यद्यपि उन्हें रास का अंतिम अंश ही प्राप्त हुआ पर वह ऐसे स्थल से प्राप्त हुआ जिससे मूल वृत्तांत के समझने में कोई असुविधा नहीं हुई। फिर भी इस घटना का मूल कारण एवं विशेष वृत्तांत (रास के अपूर्ण प्राप्त होने एवं अन्य साधनों की ओर ध्यान न जाने के कारण) वे नहीं लिख पाये अतः अपनी ६ वर्ष पूर्व लिखित सामग्री का इस लेख में उपयोग कर रहा हूँ।

लेख के मूल विषय पर विवेचन करने के पूर्व श्रीमूलराज के लेख की कतिपय बातों का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक समझता हूँ। यद्यपि आपको और मुझे प्राप्त रास एक ही रचना है पर उसके पद्यों की संख्या में बहुत अंतर है। हमें प्राप्त प्रति के अनुसार इसके पद्य १२६ हैं तब जीरा की प्रति में २२९ है। इसका कारण पद्यों की न्यूनाधिकता न होकर उसकी गणना का तारतम्य है। हमारी प्रति में ४ पंक्तियों का एक पद्य माना गया है तब जीरेवाली में २ पंक्तियों का १ पद्य माना गया प्रतीत होता है क्योंकि वर्णित घटना में तनिक भी अंतर नहीं है एवं रचना संवत् व रचयिता की परम्परा एक ही है[1]।

---

1 अभी एक दूसरी प्रति भी इसी भण्डार में इस रास की और प्राप्त हुई है उसमें भी पद्यों की संख्या इतनी ही है।

२—खेतसी के सम्बन्ध में आप को कुछ ज्ञात न हो सका पर बीकानेर का इतिहास एवं मुहणोत नैणसी की ख्याति से स्पष्ट है कि वे कांधलोत थे और बीकानेर राज्य की ओर से उस समय भटनेर के अधिकारी के रूप में नियुक्त थे।

३—रास के नायक भावदेवसूरि को आपने कालकाचार्यकथा के रचयिता होने की संभावना की है पर वह संभावना ही नहीं, निश्चित ही है। अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में सूरि जी के शिष्य मालदेव रचित कल्पान्तर्वाच्य (सं० १६१२ या १४ में रचित) की सं० १६२० की लिखित प्रति है उसमें बृहद्गच्छ की गुर्वावली भी दी गई है जिसे हमने मुनि जिनविजय जी को भेजकर विविध गच्छीय पट्टावलि संग्रह (अप्रकाशित) में छपवा भी दी है. उसकी प्रशस्ति में भावदेवसूरि रचित कालकचरित्र का स्पष्ट उल्लेख है—

"तत्पादपद्ममधुपाः विज्ञाः श्री भावदेवसूरीशाः।
श्री कालकाचरितं पुनः कृतं यैः स्वर्गा(?)पूर्व्यं ॥२॥

४—भावदेव सूरि के पट्टधर शीलदेव सूरि जी ने सम्मूनेर [illegible][1] या समाणापुर में अकबर की आज्ञा से अनंतनाथ मंदिर का [illegible] था इसकी पुष्टि भी उपर्युक्त ग्रंथालय में प्राप्त तत्कालीन (१ पत्र में) लिखित समाणापुर मंडन अनंत जिनछंद से भली भांति हो जाती है। छंद में इस प्रसंग का समय सं० १६४३ दिया हुआ है।

"इक्कु हुकमु छत्रपति. अकबर भूपति दीयउ।
उद्यम मुख सूरि, सीलदेव सूरि कीयउ॥
कीयउ उद्धार नगर सिंगार, मणोहर जिणहर संघि कर्यउ।
ऐहिणिऊ जवणइं जिन भुवणइं, प्रतिमा थापी पुन्यभर्यउ॥
जत्र जगत वखाणइ नगरि समाणइ, सोकर तेतालई कीयउ।
श्री अनंतमालप्रभु भेट्यउ, हुकमु साहि अकबरि दीयउ॥
इति श्री समापापुरचैत्य मंडन श्री अनंत जिन छंदसि ॥१॥

५—सूरि जी का भक्त लाहौर का सुलतान कौन था इसका निर्णय आप नहीं कर सके हैं पर जैसा कि आगे बतलाया जायगा वह हुमायूं का भाई कामरान था।

६—फुटनोट में रासकार की परम्परा के नाम दिये हैं। उनमें भी वीरमदेव के शि० सावलदास का नाम छूट गया है एवं शुभकरण के पिता का नाम (राजा) भी छोड़ दिया

१ रास में—ले हुकम आयो सार को, गुरुदेव सम्भूनेर।
मसीत सैर प्रासाद कीनों, कीयो जग जस ढेर ॥११२॥

गया है। इसी प्रकार रासकार का नाम भी वे समवत समझ नहीं पाये अत नहीं दिया गया, रास में इनका स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार है —

१ तसु पट्टि सावलदास नमियै, सोभवत सुजाण।

२ धन माता रूपादेवी गुरु की, ताता 'राजा' धन्न।

३ तस सीस मुनिगुरु चरण सेवक, कहै इम जगरूप।

७—राससार में "तब खेतसी ने दलपत राय को आज्ञा दी" लिखा गया है पर वास्तव में दलपति (राजा) के फरमान से खेतसी ने पुसाल बना दी यही भाव मालूम देता है।

"फुरमान दलपति राइ कौ करवाइ मेज्यो ताम।

तिन लिख्यौ द्यौ करवाइ जागा लाइ मेरे दाम ॥११०॥

तब खेतसी पुस्याल गुरु को दई तुरत कराइ।

उपर्युक्त प्रासगिक विवेचन के अनन्तर अब रास का सार एव अन्य साधनों से इसके सम्बन्ध में जो विशेष ज्ञातव्य प्राप्त होता है उसे दिया जा रहा है।

भावदेवसूरि रास सार

मगलाचरण में शारदा, ऋषभादि तीर्थंकर, पुडरीकादि गणधर, गौतम, गणेश, गौरी, महेश सद्गुरु को नमस्कार कर भावदेवसूरि का रास बनाने का कहा गया है। इसके इसके पश्चात् स० ११४ में बडगच्छ की उत्पत्ति, स० १५६१ में पुण्यप्रभसूरि के सूरिपद प्राप्त कर, विमलगिरि की यात्रा करने, उनके पट्टधर शि० भावदेवसूरि जो कि लोग डूमा पत्नी लक्ष्मी के पुत्र थे, होने का उल्लेख किया गया है। स० १६०४ में इन्हें प्रसिद्धि प्राप्त हुई थी। शीलदेवादि १८ स्थिवर उनके शिष्य थे। क्षेत्रपाल इसके सहायक था। लाहौर से कामरा को ये भटनेर चढा लाये उसकी कथा कही जाती है —

दिल्ली के बादशाह अकबर (? हुमायू) का लघुभ्राता कामरा लाहौर का सुलतान था। इधर बीकानेर में कल्याण के पुत्र सूरसिंघ (रायसिंह) राजा थे। उनके दलपत कुमार पुत्र था उसे भटनेर गढ दिया गया। उसने अपने प्रधान खेतसी कधलौत को भटनेर भेज अपनी आज्ञा फिरा दी। खेतसी वहाँ का अधिकारी नियुक्त हो गया। १०।२० वर्ष राज करने के अनन्तर किसी कारण वश उसने महाजन लोगों को कैद कर लिया। खेतसी को भूख ठीक से लगती नहीं थी, अत वैद्यों से पूछने पर गुरु (भावदेव सूरि) के पास एक धातु भूख लगने की है ज्ञात कर उसने गुरु से वह मांगी। गुरु जी ने श्रावकों को छोड़ देने की सरत पर देने को कहा पर खेतसी ने वह बात नहीं मानी अत गुरु ने वह औषधि नहीं दी। इसी बात को लेकर दोनों में तना तनी हो गई। खेतसी ने क्रोधित हो रस्सी से बाँध कर गुरु को कुँए में लटका दिया। कुँए के चारो ओर चौकी बैठा दी गई। रात्रि के समय क्षेत्रपाल ने आकर गुरु के बंधन खोल बाजोट पर बैठा दिये। उसने राजपूत को शिक्षा देने की आज्ञा

मांगी पर गुरु ने कुएँ से निकालने को ही कहा। गुरु के आंखें बंद करते ही क्षेत्रपाल ने उन्हें बाहर निकाल दिया वे वहाँ से पुसाल (उपासरे) जा क्षेत्रपाल को गढ़ के बाहर पहुंचाने की आज्ञा दी तत्काल झोली में बैठा वीर ने वैसा ही किया। गुरु ने गढ़ के बाहर आ परिचित श्रावक को पुकारा। उसने हाजिर होकर रात्रि में आने व याद करने का कारण पूछा। गुरु ने अपना वृत्तान्त सुना उसे साथ ले लाहोर की ओर चल पड़े। ११-१२ कोस जाने पर खेतसी मेरी तेरी खोज करेगा अतः तू वापिस चला जा कह विसर्जित किया और आप एक वृक्ष के नीचे बैठ गये।

इधर खेतसी ने गुरु को कुँए में नहीं पाने पर इधर उधर ढूंढ़ा। उसके सवार गुरु के पास जा पहुंचे उन्हे दूर से बैठा देखा पर पास जाने पर नहीं मिले। तब गुरु को चमत्कारी जान वे वापिस लौट गये और गुरु हमें कहीं नहीं मिले खेतसी को कह दिया। क्रोधान्ध खेतसी ने हुक्म दिया कि उनकी पुसाल को तोड़ उनके शिष्यों को बंदी बना लो। वैसा ही किया गया।

इधर गुरु जी सरसें पहुँचे और एक शिष्य को वहाँ से साथ लेकर लाहौर पधारे। श्रावकों ने गुरु का आगमन सुन कर सम्मुख जा प्रवेशोत्सव किया। गुरु ने व्याख्यानादि द्वारा श्रावकों को सन्तुष्ट कर १०।२० दिन के बाद सुलतान से मिलने का उपाय पूछा। श्रावकों ने कहा उसका दीवान गलित कुष्टी है उसे आराम करने से काम बन जायगा। गुरु ने उसे बुलाकर ७ पुडी दवा दे नीरोग बना दिया। स्वस्थ होने पर वह दरबार में पहुँचा और सुलतान ने उससे स्वस्थ होने का कारण पूछने पर उसने गुरु का परिचय दिया, शुभ मुहूर्त्त में गुरु सुलतान से मिले और चमत्कार दिखा सम्मान पाया। गुरु ने सुलतान को पारद धातु की औषधि दी इससे उसे बड़ी भूख लगने लगी। एक दिन हवाखोरी में गुरु को साथ ले कामराँ बाहर गया। वहाँ एक सघन अब वृक्ष की छाया में बैठे और यह वृक्ष अपने साथ चले तो कैसा अच्छा हो कहा। गुरु ने क्षेत्रपाल के द्वारा सुलतान की इच्छानुसार वृक्ष को साथ चला दिया। इसी प्रकार एक दिन २९ वें रोजे के दिन शिष्य को गुरु ने सुलतान के पास भेजा। सुलतान ने शिष्य से पूछा कहिये चेला जी चंद्र कब दिखेगा। शिष्य ने भूल से आज ही चंद्र दिखेगा उत्तर दिया। यह सुन कर दरबारी लोगो ने कहा चेला झूठा है और उससे वाद-विवाद करने लगे। सुलतान ने उन्हें समझाया कि चेला जी के गुरु बड़े करामाती है अतः चेला का वचन झूठा नहीं होने देंगे।

वहाँ से आकर शिष्य ने सारी बात गुरु से कही और अपनी लाज रखने का निवेदन किया। गुरु जी ने भी वीर की सहायता से थाली को आकाश में चढ़ा उसी दिन चंद्रोदय कर दिखाया। इससे सुल्तान व नगर निवासी बड़े चमत्कृत हुए। सुलतान ने बहुत प्रसन्न हो गुरु से अपने योग्य कोई काम फरमाने की विनती की। मौका देख गुरु ने भटनेर में अपने श्रावकों को बंदी करने, पुसाल को ढाहने आदि खेतसी की सारी करतूतों को सुना

भटनेर अधिकृत कर श्रावकों को छुड़ाने के लिये सुलतान को उत्साहित किया[१]। सुलतान ससैन्य रवाने हो भटनेर पहुचा। गढ़ घेर खेतसी को दूत भेजा पर वह न माना, इधर महीनों बीत गये गढ़ तोड़ न सके और पानी की भी कमी हो गई तब गुरु की विनती की गई। उन्होंने मत्रबल से मेह बरसा दिया और सवारों को साथ ले मत्रित चावलों से बुर्ज भी तोड़ डाला। सुलतान की सेना ने गढ़ में प्रवेश कर खेतसी को हाथी के पग से बाध श्रावकों को छोड़ दिया। अब तो खेतसी सुलतान से छुड़ाने के लिये गुरु के आगे गिड़गिड़ाने लगा तब गुरु जी ने दया कर उसे छुड़वा दिया और उसने पुसाल पुन बनाना मजूर किया। खेतसी ने सुलतान को बहुत सी भेंट दी उसने उसे सिरयात बनाया। गुरु का काम कर शाह लाहौर चला गया। खेतसी ने अपने स्वामी दलपति की आज्ञा प्राप्त कर गुरु की पुस्याल बनवा दी। इस प्रकार दोनों में मेल हो गया। गुरु ने प्रतिशोध ले जैन यतियों की शक्ति का परिचय देते हुए अन्य लोगों के लिये भी शिक्षा उपस्थित की।

इस रास में वर्णित घटना तो बीकानेर राज्य की अति प्रसिद्ध घटना है। कामराँ का बीकानेर पर आक्रमण स० १५९१ में राव जेतसी के समय में हुआ था इससे बीकानेर के चिन्तामणि चउवीसटा मदिर की मूर्ति को भी क्षति हुई थी इन सब बातों पर मैं अपने अन्य लेखों[२] में प्रकाश डाल चुका हूँ। प्रस्तुत रास घटना के २०० वर्ष के बाद बना होने से इसमें अतिरजितपना एव ऐतिहासिक नामों में गड़बड़ी पाई जाती है। रासकार ने इसे बाबर एव सूरसिंह दलपति सिंह के समय की बतलाई है पर वे नाम गलत हैं। वास्तव में वहाँ नाम हुमायुं एव राव जेतसी चाहिये। रास से पूर्ववर्ती नैणसी की ख्यात में इस घटना का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है—

"बड़गच्छ का एक यति बीकानेर में रहता था। उसके पास कोई अच्छी चीज थी। राव जैतसी ने वह चीज उससे मागी, परन्तु यति ने दी नहीं। तब राव ने उसे मारकर वह वस्तु ले ली। फिर कामराँ (हुमायू का भाई जो काबुल में राज करता था) हिन्दुस्तान पर चढ़ आया। उस यति का चेला उससे आगे आकर मिला और कहा "आप उधर चलें तो भटनेर का गढ़ हाथ आवे। कॉमरा ने कहा कि उधर जल नहीं है। चेला बोला कि जल मुझ से प्राप्त होगा। कॉमरा उसको साथ लिये भटनेर को चला। मार्ग में जल न मिलने से कटक मरने लगा तब यति ने क्षेत्रपाल की आराधना की। मेह बरसा और जल ही जल हो गया। ये भटनेर पहुँचे। तुर्कों ने पीछे फिर कर खेतसी को मारा। भयकर युद्ध हुआ, कई आदमी मारे गये। कामराँ भटनेर में थाना रख बीकानेर आया।

(मुँहणोत नैणसी की ख्यात द्वि० पृ० १४२)

बीकानेर राज्य के प्रधान ऐतिहासिक ग्रन्थ—दयालदास की ख्यात में लिखा है कि "भावदेव सूरि नाम के एक जैन पडित ने जिससे राठोड़ों से युद्ध कहा सुनी हो गई थी

१ दे० राजस्थानी भा० ३ अं० १। २ राजस्थान भारती वर्ष १ अं० १।

दिल्ली जाकर कामरॉं से भटनेर के गढ़ की बहुत प्रशंसा की जिस पर उस (कामरॉं) ने ससैन्य भटनेर को घेर लिया। कुछ दिनों के युद्ध के बाद उस गढ़ का स्वामी खेतसी भाग गया और वहाँ कामरां का अधिकार हो गया (नि० २ पत्र १४)

मान्यवर स्व० ओझा जी ने बीकानेर राज्य के इतिहास का भा० १ पृ० १३० में उपर्युक्त उद्धरण देते हुए इसमें दिल्ली से आने के उल्लेख को देख इसे निराधार बतलाते हुए लिखा है कि "परन्तु एक जैन पंडित के दिल्ली जाकर कामरॉं को भटनेर पर चढ़ा लाने की बात निराधार है, क्योंकि यह घटना बाबर की मृत्यु (वि० सं० १५८७ ई० सं० १५३०) के बाद की है जब कामरॉं लाहौर में था और वह वहाँ से ही चढ़ कर आया होगा।"

बीकानेर राज्य की अनूप संस्कृत लाइब्रेरी के एक अन्य हस्तलिखित ग्रन्थ में कान्धलोत खेतसी की बात है उसमें भी उपर्युक्त घटना का उल्लेख है अतः यहाँ उसे भी उद्धृत कर दिया जाता है—

"वात भटनेर सहर कांधिलोत खेतसीह राज्य करै, भटनेर माहि बडगच्छआमथेन भावदेव सूरि रहै तिणरा शिष्य शीलदेव भालदेव। सुइयॉ रै रसकुंपहाथ आयो हुतो सोनो कीयो पछै वेचीयो। पछै सोनारे वाणाए जाइ खेतसी नुकह्यो अे मथेन सोनो करै छै। ताहरः एक दिन खेतसी जी आदमी मेल्हीयो। सोनो म्हारै चहीजै छै। म्हे पइसां देस्यां! ताहरां ईयां सोनो दीयो, वले मास ४ आडांधातिं मंगायो, वले दीयो। वले मास ४ आडा-धातनि मंगाये। वले दीयो। वलेमास ४ आडाधानि मंगायो ताहरां उत्तर दीयो। कह्यो सोनो म्हां फकीरां कठा! ताहरॉं ईयॉं कोईवान हुनी सुआनोपर्को। ईयॉं नु बोलाया कह्यो सोनो द्यो, अेनरी ठाठया मीठया घणया ही दीयादिण पनठारै नहीं। पछे रोकीया तब सीस की वीपिण दे नहीं। कोहर (कुओ) मांह उतारीया पणपतगरै नहीं। ताहरां भावदेव मार रे मुंहडैमूयो ताहरां चेला दोनूं छोडिदिया। ताहरा चेला ज्योतिषी हुता। जाइनै काबिल कुंवरै पातिसाह नुं मिलीया। प्रश्न कीयो जोतिक री बात पूछी उना कही बात मिली। ताहरा द्रव्य देण लागौ, ऐ कहै द्रव्य न ल्यां म्हांहरो गुरु राठोड़ खेतसी मारियो छै सुअेम्हांहरो ऊपर करो। ताहरा सारी हकीकत कही। ताहरां खेतसीह ऊपरी मुहिम री हुकम कीयौ। आटौ पिण तयारी हुही पछे मथेनले आया। पातिसाह आवतो सुणि खेतसीह साम्हौ गयौ। भेट दे मिलीयौ पछे पातिसाह आगै नुं मनधरियौ आगै पाणी नहीं धरती माहे। ताहरां ईयां मेह बरसायो। पातिसाह आंघो चाली चालीयौ ताहरां मथेनां अरज कीजुहयै नुं छोडमता जावो। धिरता नु थानुं दोहरो लागसी। पछे पातिसाह अपूणे घिरियौ खेतसीह सुणीयौ पातिसाह आवै छै। ताहरा जुहर कर काम आयौ। पाछै पातिसाह बीकानेर आयो। रांवजी जेतसीह जी लड़ाई कीवी। पातिसाह भागो। रावजी री जैत हुई।

॥ बात कांधलोत खेतसी री संपूर्ण ॥

(गुटका नं० २२ पेज ३६७ B)

उपरोक्त बात की भाषा राजस्थानी है अत उसका सक्षिप्त सार दे दिया जाता है—

भटनेर शहर में काधलोत खेतसीह राज करता था। वहीं वडगच्छ के मथेन (महात्मा, यति) रहते थे। उनके शीलदेव और भालदेव दो शिष्य थे। सयोगवश उनको रस कुपिका की प्राप्ति हुई इससे सोना बनाके बेचा। वनिक ने यह बात खेतसी को कही। उसने भावदेवसूरि से सोना मागा गुरु ने २ ३ बार ? दिया पर खेतसी का लोभ बढ़ता ही गया तब अत में गुरु ने सोना देने से इनकार कर दिया। खेतसी ने बहुत चेष्टा की पर वे राजी नहीं हुए। अन्त में खेतसी ने भावदव को मरवा डाला। उनके शिष्य अच्छे ज्योतिषी थे। वे काबुल के पातशाह से मिल उसे ज्योतिष का चमत्कार दिखाया। उनका कहा हुआ भविष्य खरा उतरा। बादशाह ने उन्हें द्रव्य लेने को कहा पर उन्होंने न लेकर भटनेर की हकीकत कह, उस पर चढ़ाई कर गुरु का बदला लेने को प्रेरित किया। बादशाह ने ससैन्य चढ़ाई की। खेतसी ने भेंट दे उसे प्रसन्न कर लिया। बादशाह आगे चलने लगा पर जलाभाव था। चेलों ने मेह बरसाया और खेतसी को ऐसे ही छोड़ जाने से वापिस आते समय उत्पात करेगा, कहा। बादशाह ने वापिस घेरा डाला। खेतसी ने जौहर किया। बादशाह बीकानेर पर चढ़े पर राव जैतसिंह ने उन्हें परास्त किया अत वह भाग खड़ा हुआ। विजय जैतसिंह की हुई।

राव जैतसी को कामरॉ पर विजय की प्रशसा को लेकर तत्कालीन तीन राजस्थान कवियों ने जैतसी का छद, जैतसीरासो ग्रन्थ बनाये। जिनमे से एक L. P टेसीटोरी ने रायल एसोसियाटिक सोसायटी कलकत्ते से प्रकाशित कर दिया है। न० ३ की दो प्रतियॉ हमारे सग्रह में हैं।

ऊपर में दिये गये चारो प्रमाणों पर विचार करने से यह तो निश्चित हो जाता है कि भावदेवसूरि का किसी कारणवश खेतसी से तनातना हो गई और उन्होंने लाहौर से कामरां को भटनेर पर चढ़ाई करवाई। पर कई विरोधी बातों का समाधान अभी समकालीन प्रमाणों के अभाव में नहीं हो सकता। समकालीन प्रमाणों में जैतसी के रासत्रय एव चिन्तामणि मूर्त्ति का अभिलेख ही हैं जिनमें उल्लिखित नहीं है वे विरोधी बातें इस प्रकार है—

१ खेतसी और भावदेवसूरि के अनबन होने का कारण—

रासकार ने धातु-औषधि, मुँहणोत नैणसी ने भाई चान और में सोना बतलाया है। इनमें स्वर्ण ज्यादा सभव लगता है।

२ भावदेवसूरि या खेतसी का मारा जाना—

रासकार ने दोनों का परस्पर में मेल करा के छोड़ दिया है। मुँहणोत नैणसी की ख्यात एव दयालदास और बात के अनुसार खेतसी मारा गया निश्चित होता है। बात एव नैणसी की ख्यात में इससे पहले भावदवसूरि को खेतसी ने मारडाला और

उनके शिष्यों ने प्रतिशोध लिया लिखा है, वह ठीक नहीं मालूम देता; क्योंकि भावदेवसूरि सं० १६१४ (कुलपार्तवाच्य की गुर्वावलि के अनुसार) तक विद्यमान थे। अतः बात एवं ख्यात लेखक के कथन में सचाई हो तो यह संभव हो सकता है कि भावदेवसूरि के गुरु के सम्बन्ध में यह घटना हुई हो, उन्हें मार डाला गया हो और प्रतिशोध भावदेवसूरि ने लिया हो अतः रासकार ने उन्हें ही सारी घटनाओं का नेता बना दिया हो। यह इसलिये भी संभव प्रतीत होता है कि भावदेवसूरि को आचार्य पद सं० १६०४ में मिला था जैसा कि सर्वत्र कहा गया है वे घटना (सं० १५९१) के समय के आचार्य पदारूढ़ थे यह बात उनके गुरु के सम्बन्ध में ही घट सकती है। पुन्यप्रभसूरि मारे गये हों उसका प्रतिशोध लेने में समय बीत जाने के कारण भावदेवसूरिजी को आचार्य पद देरी से मिला हो यह संभव है। बीकानेर के इतिहास से अन्त में विजय राव जैतसी की रही निश्चित है।

——:o:——

धर्मकथा-विकासात्मक परिभाषा

[ले०—श्रीयुत बा० रामसिंह तोमर एम० ए०, शान्तिनिकेतन]

साहित्यिक अंग के रूप में संस्कृत के प्राचीन रीति ग्रन्थकारों ने धर्मकथा का उल्लेख नहीं किया है। सब से प्राचीन भारतीय काव्याचार्य भामह ने केवल कथा और आख्यायिका का उल्लेख किया है और उनके पश्चात् दण्ड्याचार्य ने भी उनके विचारों की एक प्रकार से आलोचना सी की है। आगे चलकर आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में कथा आख्यायिका के अतिरिक्त परिकथा, सकलकथा और खण्डकथा के उल्लेख किये हैं। परिकथा में उनके अनुसार इतिवृत्तमात्र उपन्यस्त होता है और रसविकास के लिये विशेष स्थल उसमें नहीं होता तथा खण्डकथा और सकलकथा की प्राकृत में रचना होती थी। इनमें वृत्ति के अनुकूल रस चित्रण के लिए स्थान रहता है। ध्वन्यालोक के व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने कुछ अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि एक धर्मादि पुरुषार्थ को उद्देश्य कर के प्रकार वैचित्र्य से अनेक वृत्तान्तों के भिन्न वर्णनों के लिए परिकथा में स्थान रहता है। खण्डकथा में एक देश प्रधान वृत्तान्त का वर्णन रहता है। सकलकथा में समस्त इतिवृत्त की फलान्त पर्यन्त वर्णना रहती है। खण्डकथा और सकलकथा प्राकृत में होती हैं। किन्तु किसी प्राकृत रचना का उदाहरण मूल कृतिकार एवं व्याख्याकार ने नहीं किया और न कोई विशेष विस्तार ही किया है।

इनके पश्चात् जैनाचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने ग्रन्थ काव्यानुशासन में इस विषय की चर्चा की है। कथा और आख्यायिका के अतिरिक्त कथा के और भी भेदों की चर्चा उन्होंने की है। परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा की परिभाषाएँ ध्वन्यालोक से ही ली गई प्रतीत होती हैं। अपनी टीका में हेमचन्द्र ने सकलकथा को चरित कहा है सकलकथा के उदाहरण-रूप में समरादित्यकथा का उल्लेख किया है। उपकथा नामक एक और कथाभेद की उन्होंने चर्चा की है जिसके संबंध में उन्होंने कहा है कि जिसमें एक चरित का आश्रय लेकर अति प्रसिद्ध कथान्तर को नियद्ध किया जाय, चित्रलेखा का उपकथा के उदाहरण रूप में उल्लेख किया है। बृहत्कथा का कथा के भिन्न प्रकार के रूप में उल्लेख हुआ है।

काव्यशास्त्र से संबंधित उपर्युक्त अथवा अन्य ग्रन्थों में धर्मकथा का कहीं निरूपण नहीं मिलता। जैनसाहित्य में कुछ कृतिकारों ने अपनी रचनाओं को स्पष्ट रूप से धर्मकथा कहा है और कुछ ने प्रारम्भ में इसकी व्याख्या भी कर दी है। कदाचित् उन्होंने यह व्याख्या इसलिए आवश्यक समझी होगी, क्योंकि इस पर अन्य काव्यविवेचकों ने कुछ नहीं

कहा तथा आगे के काव्यविवेचक किसी व्याख्या के अभाव में उनकी कृति की विवेचना काव्यशास्त्र के परंपरागत सिद्धान्तों के आधार पर अन्य ढंग से न कर सकें ऐसा कि कहीं कहीं काव्यविवेचकों द्वारा हुआ है। प्राचीन कथा ग्रन्थ या काव्यग्रन्थ जिनकी रचना स्वतंत्र ढंग से हुई है उन्हीं को आधार एवं आदर्श मानकर इन ग्रन्थों में काव्याङ्गों की विवेचना की गई है। परिणाम इसका यह हुआ कि प्रबन्ध काव्यों में कुछ विशेष नियमों का पालन करना पीछे के रचयिताओं के लिये सामान्य नियम सा हो गया। यही दशा कथा, आख्यायिका तथा नाटकों की भी मिलती है। जो स्वतंत्र ढंग से ग्रन्थ लिखे गये उनको या तो काव्य समीक्षकों ने नया भेद मान लिया गया या कोई उल्लेख ही नहीं किया। कुछ जैन रचनाओं जिनको कि धर्मकथा उनके रचयिताओं ने कहा है, के भी संबंध मे कुछ ऐसी ही बात हुई होगी अन्यथा उनका उल्लेख काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में अवश्य मिलता।

हेमचन्द्र ने एकमात्र समरादित्य संबंधित किसी कथा का उदाहरण सकलकथा के लिए किया है संभव है उनका तात्पर्य हरिभद्रसूरि की सिद्ध रचना 'समराइच्चकहा' से ही होगा। किन्तु हरिभद्राचार्य ने अपनी कृति के आरंभ में कृति को 'धर्मकथा' कहा है। सकलकथा का उल्लेख भी नहीं किया। अतः कृतिकार तथा अन्य इस प्रकार की व्याख्याओं पर यहाँ संक्षेप में विचार करना युक्तिसंगत होगा।

हरिभद्राचार्य ने पूर्वाचार्यों के अनुसार कथावस्तु तीन प्रकार की मानी है, दिव्य, दिव्य-मानुष् और मानुष्। दिव्य में केवल देवचरित का ही वर्णन रहता है, दिव्य मानुष् में दिव्यमनुष्य दोनों के चरित का वर्णन रहता है। मानुष् में केवल मनुष्य चरित्र का ही वर्णन रहता है। सामान्यतः कथाएँ चार प्रकार की होती है—अर्थकथा, कामकथा धर्मकथा और संकीर्णकथा। कथा साहित्य का यह मौलिक विभाजन है। काव्यशास्त्रियों ने भाषा, प्रबन्धात्मकता, छंद, कथा के चरितनायक एवं वस्तु के ढंग पर कथाओं के भेद किए हैं किन्तु इस प्रकार के व्यापक आधार को सामने रख कर कथाओं का वर्गीकरण किसी आचार्य ने नहीं किया है। प्रयत्न करने से काव्याचार्यों के वर्गीकरणों में इन भेदों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। जैनाचार्यों ने कथा के इन भेदों की ओर भी व्याख्या विस्तार से की है। अर्थकथा में अर्थ प्राप्ति ही कथा का प्रमुख उपादान होता है—असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प, वाणिज्य मे संगत तथा जि में विचित्र धातु आदि के महा प्रयोग किए जाते हैं तथा वह साम, भेद उपप्रदान (रिश्वत देना) दंड के प्रयोगों से युक्त होती है।

कामकथा (प्रेमकथा) में धन अवस्था (युवा०), शरीर, कलाओं में दाक्षिण्य से युक्त प्रेम व्यापार की प्रधानता होती है तथा जिसके साथ अनुराग से पुलकित करने वाले मिलन अवसर, दूति आदि के व्यापार से युक्त भावानुवर्त्तन रहते हैं।

धर्मकथा वह है जिसमें क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, अकिंचनत्व, और ब्रह्मचर्य की साधना का वर्णन प्रधान हो तथा अणुव्रत, दिग्व्रत, देशव्रत, (देश भ्रमण के नियमादि का व्रत), अनर्थदण्डव्रत, विरति, उपशमादि के नियम, उपभोग, परिभोग के नियम अतिथियों को देकर भोजन करना, अनुकम्पा तथा क्षुधा, तृषा आदि २२ परिषह-जय का वर्णन आदि तत्त्व रहते हैं।

धर्मकथा के इस विवेचन में भाषा, गद्य, पद्य एवं अन्य काव्य शास्त्र के किसी प्रतिबन्ध को नहीं स्वीकार किया गया है, केवल कथा की वस्तु को ध्यान में रखकर व्याख्या की गई है और उसी को प्रधान अङ्ग माना है अन्य तत्त्वों को गौण। यहाँ निर्देशित कुछ धर्मकथाओं में गद्य पद्य (प्राकृत और संस्कृत एक भाषा में हो) का प्रयोग मिलता है किन्तु काव्यशास्त्रों में ऐसी रचनाओं को मिश्र या चम्पू कहा है उनसे यह भिन्न है। इन कृतियों में गद्य या पद्य के प्रयोग वर्णन तथा कथा के अनुसार रहते हैं या इसी प्रकार के अन्य आधार बनाकर किसी नियम का ढूंढना कठिन नहीं है।

संकीर्ण कथा में प्रधान रूप से तीन तत्त्व रहते हैं, काव्य, कथा ग्रन्थ में अर्थ गांभीर्य तथा लौकिक समय प्रसिद्धियाँ तथा नियम और उदाहरण, हेतु तथा कारण से युक्त होती है।

इन कथाओं के अनुकूल श्रोता भी तीन प्रकार के होते हैं, उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम श्रोता धर्मकथा से प्रेम रखनेवाले होते हैं। हरिभद्र ने अपनी कृति को दिव्यमानुष वस्तु में सर्वधित धर्मकथा कहा है। निस्सन्देह उनकी कृति में उपर्युक्त कथित धर्मकथा के सभी तत्त्व मिलते हैं।

हरिभद्र के ही समान उनके शिष्य (?) सिद्धर्षि ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति उपमितिभव प्रपञ्च कथा के प्रारम्भ में धर्मकथा की व्याख्या की है। चार प्रकार की कथाओं और श्रोताओं का सिद्धर्षि ने उल्लेख किया है। अर्थकथा और कामकथा को निकृष्ट कह कर अपनी कृति को धर्मकथा कहा है। हरिभद्राचार्य और सिद्धर्षि के कथा सम्बन्धी विवेचना में कोई अन्तर नहीं है। सिद्धर्षि ने अपनी कृति की रचना संस्कृत में की है किन्तु प्राकृत की जो प्रशंसा उन्होंने की है उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके सामने प्राकृत रचित कोई धर्मकथा (और वह समराइच्च कहा ही होगी) आदर्श रूप में विद्यमान थी। हरिभद्र का समय ईसा ८ वीं शती तथा नवीं का प्रारम्भ विद्वानों ने निश्चित किया है और सिद्धर्षि ने अपनी कृति की रचना ९०६ ई० में की।

उपर्युक्त दोनों धर्मकथा रचयिताओं में प्राचीन जटासिंहनन्दि हैं जिन्होंने अपनी कृति वराङ्ग चरित की रचना सम्भवतः ईसा की सातवीं शती में की (माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला में

प्रकाशित, १९३८)। जटासिंहनन्दि ने अपनी कृति के प्रारम्भ में (१-६-८) कथा की व्याख्या की है और श्रोता और वक्ता का भी उसी प्रसंग में महत्व बतलाया है और अपनी कृति को धर्म, अर्थ, काम के सहित मोक्षफल में अवसान होने वाली कहा है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में भी रचयिता ने अपनी कृति को चतुर्थ वर्ग समन्वित धर्मकथा कहा है

वराङ्गचरित की समरादित्य कथा और उपमितिभवप्रपञ्च कथा के साथ समता करने पर कुछ भेद तथा साम्य मिलते हैं। वराङ्ग चरित संपूर्ण पद्यबद्ध रचना है जब कि अन्य दोनों कृतियों में गद्य और पद्य का समान रूप में व्यवहार हुआ है। समरादित्य कथा में केवल प्राकृत (जैन महाराष्ट्री) का ही प्रयोग हुआ है और उप० में केवल संस्कृत का। वराङ्गचरित का कथानायक पौराणिक व्यक्ति है। समरादित्यकथा के प्रधान पात्र गुणसेन और अग्निशर्मा की कथा हरिभद्र को पूर्वाचार्यों से प्राप्त हुई थी किन्तु बहुत कुछ भाग उनकी मौलिक कल्पना का परिणाम है। उपमितिभवप्रपञ्च कथा एक साङ्गरूपक कथा है जो कदाचित् भारतीय साहित्य में विरले उदाहरण हैं। तीनों ही ग्रन्थों में काव्यमय वर्णनादि मिलते हैं, किन्तु सभी प्रधान कथा से संबंधित है और उसमें योग देते हुए दिखाये गये हैं। तीनों ही कृतियों में आदि से अन्त तक कथा के प्रधान पात्र से ही संबंधित कथाएँ हैं।

ग्रन्थों के विभागों को देखने से पता चलता है कि वराङ्गचरित काव्य के समान सर्गों में विभाजित है—सम्पूर्ण कृति में ३१ सर्ग हैं। कथा का एक एक अंग प्रत्येक सर्ग में समाप्त किया गया है। समरादित्यकथा और उपमितिभवप्रपञ्च कथा के विभागों में पर्याप्त समानता है केवल नामों का अन्तर है। पहिली में उन्हें भव (जन्म-संसार) कहा गया है समराकृति में कथा के प्रधान पात्रों के नवजन्मों की कथा है। इसी तरह उपमितिभव-प्रपञ्च कथा आठ प्रस्तावों में विभक्त है। महाकाव्यों या प्रबन्ध काव्यों की विशेषता वराङ्गचरित में बहुत सी मिलती है, अन्य कृतियों में नहीं अर्थात् वराङ्ग चरित महाकाव्य के अधिक निकट है और आसानी से उसे धार्मिक या पौराणिक महाकाव्य कहा जा सकता है। अन्य दो कृतियों को नहीं।

सफल धर्मकथा के समान तीनों ही कृतियों का अवसान शुभ मोक्षप्राप्ति फल के रूप में किया गया है। समरादित्य कथा में गुणसेन मुक्त जीवों के लोक में जाकर मोक्ष प्राप्त करता है। उसकी धर्म दृढ़ता से सभी देव प्रसन्न होते हैं। उपमितिभवप्रपञ्च कथा में संसारी जीव अत्यंत निकृष्ट अवस्था से क्रमशः क्रोध, मान, माया, लोभादि पर अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए विजय प्राप्त करता जाता है और अन्त में निर्वृत्ति या मोक्ष प्राप्त करता है। वराङ्ग चरित में वराङ्ग मोक्ष प्राप्त करता है। अतः प्रस्तुत कृतियों में काव्यन्याय का एक प्रकार से अच्छी तरह पालन किया गया है।

काव्य के अनुकूल इन तीनों ही कृतियों में सरल, मनोरंजक स्थलों का अभाव नहीं है किन्तु कथा की दृष्टि से समरादित्य कथा अधिक सरल और सफल है। अन्य दो कृतियों में अनेक स्थलों पर गंभीर विवेचन मिलते हैं। तथा उपमिति० की कथा भी मानसिक विकारों को रूपक देने के कारण तत्कालीन युग के अनेक विश्वास और सामाजिक चित्रों युक्त है और इस दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत ही महत्वपूर्ण है।

ये तीनों कृतियाँ उनके रचयिताओं द्वारा यद्यपि "धर्मकथा" कही गई हैं और धर्मकथा का ठीक स्वरूप निश्चित न होने के कारण तीनों ही ग्रंथकारों ने धर्मकथा के स्वरूप की भी अपनी अपनी कृतियों में व्याख्या की है, इनमें कथा का अनुरंजक तत्व तथा धर्म के उपदेश तत्व का सुन्दर योग मिलता है। तीनों ही रचयिताओं की असाधारण प्रतिभा के कारण काव्य तत्व से सपन्न हैं और प्रत्येक अपने ढंग की सफल रचना है। जैनाचार्यों की इन कृतियों का भारतीय साहित्य में विशिष्ट स्थान है, उनके मौलिक रूप के कारण। पुराण, धर्म, कथा वर्णनशैली, काव्यतत्व सभी को उचित अनुपात में लेकर ही धर्मकथा के रूप में इनके रचयिताओं ने इनकी रचना की है, साहित्यिकों द्वारा परिभाषा की गई कथा, आख्यायिकादि से ये रचनाएँ भिन्न हैं तथा मौलिक प्रयोग हैं और इसी रूप में इनका अध्ययन होना चाहिये।

इस प्रकार की धर्म कथाएँ जैन साहित्य में बहुत हैं। किन्तु वे पुराणों से भिन्न हैं और चरित काव्यों से भी जैसे श्रीपाल चरित आदि। और केवल कथा साहित्य की दृष्टि से आराधनाकथाकोष पुण्यास्रवकथाकोष, जैसे कथाग्रंथ चारित्रवर्धक सुन्दर धर्मकथा सम्बन्धी रचना हैं।

१६० जैन साहित्य में एक नहीं सहस्रों की संख्या में धर्मकथाएँ हैं, जिनके द्वारा जैन साहित्य अपनी अनेक रूपता के सहित समृद्धशाली है।

—०—

आय-सद्भाव

[ले०—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न]

प्रश्नशास्त्र फलित ज्योतिष का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसमें प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नानुसार विना जन्मकुण्डली के फल बताया जाता है। जैन निमित्तज्ञान में इस शास्त्र पर अनेक रचनाएँ की गई हैं। प्रस्तुत आयसद्भाव प्रश्नशास्त्र का ही ग्रन्थ है। सन १९४६ में विद्वत्परिषद् के मथुरा में हुए शिक्षण शिविर के अवसर पर मुझे यह ग्रन्थ श्री पं० शंकरलाल शर्मा शास्त्री से प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता आचार्य मल्लिषेण बताये गये हैं। कुल ग्रन्थ में १९६ आर्याएँ हैं। इस ग्रंथ में २० प्रकरण हैं।

संज्ञाधिकार—इस अधिकार में ध्वज, धूम्र, सिंह, मण्डल, वृष, खर, गज और वायस इन आठों आयों के नाम, इनकी दिशाएँ एवं इनके विशेष स्वरूप का कथन किया है। इस प्रकरण में बताया है कि पूर्व-पश्चिम में चार सीधी रेखाएँ खींच कर उन पर उत्तर-दक्षिण में और चार रेखाएँ खींचनी चाहिये, इससे नौ कोठों वाला एक चक्र बन जाता है। उसके बीच के कोठे को छोड़ कर शेष आठ कोठों में आठ दिशाओं की कल्पना कर ध्वज, धूम्र, सिंह, मण्डल, वृष, वायस, खर और गज ये सब प्रतिपदा को अतिक्रमण करते हुए तिथि भुक्ति के प्रमाण के अनुसार इन आठों दिशाओं में उदित होकर एक प्रहर बाद तत्परवर्ती दिशा में गमन करते हैं, इस नियम के अनुसार रात दिन में आठों दिशाओं में घूम आते हैं। जैसे प्रतिपदा में प्रथम प्रहर में ध्वज पूर्व में उदित होता है, पुनः प्रथम प्रहर के बीत जाने पर अग्निकोण में चला जाता है, वहाँ एक प्रहर रहकर दक्षिण दिशा में चला जाता है। इस नियम के अनुसार प्रतिपदा तिथि के आठों प्रहरों में ध्वज आठों दिशाओं में भ्रमण करता है। इसी प्रकार द्वितीया आदि तिथियों में भी धूम्र आदि का उदय एवं भ्रमण समझ लेना चाहिये।

इस प्रकरण में अन्य आय ग्रंथों से यह नवीनता है कि ऋतु, दिन, पक्ष और समय-प्रहर की अपेक्षा से आयों के बलाबल का अच्छा निरूपण किया है। तथा सभी आय के आकार-प्रकार, रूप-रंग, कद, जाति आदि का सुन्दर कथन किया है। पूरे प्रकरण में आयों की विभिन्न संज्ञाएँ और उनकी परिभाषाएँ बताई गई हैं।

दूसरा सूचा प्रकरण है। इसके प्रारम्भ में पृच्छक का लक्षण बताया है। ज्योतिष शास्त्र वैज्ञानिक होने पर भी श्रद्धा की चीज है, अतएव पृच्छक को शान्त भाव से फल, पुष्प और अक्षत लेकर दैवज्ञ से प्रश्न पूछना चाहिये। इस प्रकरण में प्रश्नों के उत्तर देने की

विधि को बतलाते हुए कहा है कि १०८ सफेद रग का कौड़ियों को स्वच्छ जल से धोकर पुन गन्धोदक से उन्हें धोना चाहिये। पश्चात रात को चन्दन, अक्षत् आदि से उनकी पूजा करनी चाहिये, फिर एक पट्टे पर उन कौड़ियों के पुज को रख प्रात काल पुनः मन्त्रज्ञ उनकी पूजा करे। पूजा करने के निम्न मन्त्र दिये गये हैं —

ॐ नमो मन्त्रादिरिटिमिटिपुलिन्दिनी स्वाहा। ॐ नमो भगवते सुग्रीवस्स-निज्जाहरपयदमवणस्स कमले २ विमले २ विपुले २ अवतरावतर २ देवि सर्वाङ्ग-सुन्दरि एहि २ श्रीं ह्रीं इटिमिटिपुलिन्दिनि स्वाहा।

इसके पश्चात् पुज को तीन भागों में विभक्त कर उनमें से आठ कौड़ियाँ निकाल लेना चाहिये और इन आठ को ध्वज, धूम आदि आय की कल्पना कर शुभाशुभ फल कहना चाहिये। इस प्रकरण में और भी एकाध मन्त्र दिये गये हैं। प्रश्न विधि के श्लोक निम्न प्रकार है —

अष्टोत्तरशतसख्यानाहृत्य कपर्दकान् धवलवर्णान्।
धौतान् समानवर्णान् क्षीरजिनस्नानतोयेन॥
रात्रावभ्यर्च्य पुन सुगन्धाक्षतादिभि पूर्वम्।
सस्थाप्य पट्टकेऽपि च कपर्दकाना तत पुञ्जम्॥
प्रात समये पश्चात् पुनरपि सम्पूज्य मन्त्रतो मन्त्री।
ॐ नमो मन्त्रादिरिटिमिटि पुलिन्दिनी स्वाहा॥
फलके पुञ्जत्रितय तस्मादष्टौ कपर्दकास्तु हरेत्।
उद्धरित कपर्दकत शुभाशुभ निर्दिशेत् प्रायः॥

तीसरा स्थान प्रकरण और चौथा सख्या प्रकरण हैं। इन दोनों में नष्ट द्रव्य या पृथ्वी के नीचे से धन प्राप्ति के प्रश्न का उत्तर दिया गया है। जितना महत्त्व का विषय है, उतना महत्त्वपूर्ण वर्णन नहीं है। बहुत ही सक्षेप में द्रव्यानयन या द्रव्यप्राप्ति के सम्बन्ध में बताया गया है। प्रश्नशास्त्र की दृष्टि से इन दोनों प्रकरणों में कोई नई बात नहीं है।

पाँचवा चक्र प्रकरण है, इसमें नक्षत्र यन्त्र, शल्योद्धारक चक्र, रवमांशचक्र, आलिंगित चक्र आदि कई चक्रों का वर्णन है, इन चक्रों द्वारा प्रश्नों का उत्तर भी दिया गया है। नक्षत्र और शल्योद्धार चक्रों का स्वरूप निम्न प्रकार है —

नक्षत्र यंत्र

स्वा० चि० वि० ह०	अनु० मू०	उ० पू० अ० श्र०
उ० म०	ज्ये० पू० शा० रो०	ध० पू०
आश्ले० पु० आ० पु०	मृ० कृ०	उ० भ० रे० अ०

शल्योद्धार चक्र

४	८	१
५	धी०	३
७	२	६

इन यंत्रों द्वारा प्रश्नों के शुभाशुभों का निरूपण अन्य प्रश्नग्रंथों की अपेक्षा विलक्षणता पूर्वक किया है। छठवें प्रकरण और सातवें प्रकरण में जीव, धातु और मूल संज्ञक अक्षरों का कथन किया है। तथा प्रश्नाक्षरों की जीव, मूल और धातु संज्ञाओं पर से शुभाशुभ प्रश्नों के उत्तर दिये गये है। अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः ट ठ ड ढ ण य र ल व, ये जीवाक्षर, क ख ग घ त थ द ध न श ष स ह ये धात्वक्षर एवं च छ ज झ ञ प फ ब भ म ङ ये मूलाक्षर संज्ञक है। जीवाक्षर प्रश्न में हों तो आलिङ्गित, धात्वाक्षर हों तो दग्ध और मूल हों तो अभिधूमित प्रश्न होता है। नष्ट प्रश्न और मुष्टि प्रश्न का ज्ञान करते समय आलिङ्गित और शान्त प्रश्न के होने पर जीव, दग्ध के होने पर धातु एवं अभिधूमित के होने पर मूल का ज्ञान करना चाहिये।

आलिङ्गितशान्ताभ्यां जीवो धातुः स्याद्दग्धदर्शनत ।
अभिधूमिते च मूलं नष्टं कथयन्ति तत्त्वविदः ॥

' आदिस्थायो जीवो मध्यस्थो धातुरन्त्यगान् मूलम् ।
मुष्टिक्रमेण कथयेत् निमित्त निद्धलवतायेन ॥

इस प्रकार मुष्टिप्रश्न और नष्टप्रश्नों का उत्तर दिया गया है। मानस प्रश्नों का विचार भी इस प्रकरण में किया है। यद्यपि इस प्रकरण के प्रश्न अन्य प्रश्न ग्रंथों से मिलते जुलते हैं किन्तु शैली में अनेक विशेषताएँ हैं।

आठवाँ पातलक्षण नाम का प्रकरण है। इसमें आयों के पातों का वर्णन किया गया है तथा सह, सहविमुक्त, स्वस्थान, ग्रहीतमुक्त, अनुकूल, प्रतिकूल, चलित, सरित, और अभिमुखपातों के लक्षण और फल बनाये गये हैं। यह प्रकरण बिलकुल नया प्रतीत होता है, प्रश्नशास्त्र में इस नाम के पातों का अन्यत्र उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया है। छोटा सा प्रकरण होते हुए भी मौलिक प्रतीत होता है।

नौवाँ मित्रामित्र नाम का प्रकरण है। इस प्रकरण म आठों आयों के मित्र और शत्रु का विचार किया गया है। धूम आय के वृषभ, खर, खग, मण्डल मित्र और अन्य आय शत्रु, सिंह आय के मण्डल, वायस, मित्र और अन्य शत्रु, मण्डल आय के खर, वृषभ, गज उदासीन और शेष शत्रु, वृषभ आय का वायस मित्र, सिंह और अग्नि शत्रु तथा अन्य उदासीन एव खर आय का सिंह, धूम शत्रु और शेष आय उदासीन होते हैं। प्रश्न में मित्र-शत्रु आयों के अनुसार फलाफल का निरूपण किया गया है।

दशवाँ प्रकरण स्वभाव योनि नाम का है। इसमें आयों के स्वभाव, गुण का वर्णन सक्षेप से किया गया है। आयों के स्वभाव के अनुसार ही उनका फल भी बतलाया है।

ग्यारहवाँ और बारहवाँ लाभालाभ तथा लाभ नामक प्रकरण हैं। इन दोनों प्रकरणों में प्रश्नकर्ता के समय के आय पर से तथा उस आय के पात, स्वरूप आदि पर से लाभालाभ का निरूपण किया गया है। ग्रन्थकर्ता ने बारहवें प्रकरण में कार्यसिद्धि का निम्न प्रकार वर्णन किया है —

देवगृहदेवपूजादुर्गतिवाहादिसर्वकार्याणि ।
स्वस्थानस्थिरपाते कल्यानि मनीषिभि सततम् ॥
कर्षणविद्याशिक्षणसेवावाणिज्यशिल्पकर्माणि ।
चलकार्याणि च नून स्वस्थानचलायपाते च ॥
प्राकारगोपुरालयकूपसरोवरमुखानिकार्याणि ।
सिद्ध्यन्त्युपरितलस्थ. स्थिरमित्र भवति यदि पात॥॥
क्रयविक्रयशुभसेवाम्यजनधनप्रमुखसर्वसम्बन्धः ।
मित्रानुकूलसन्मुख पातो यदि भवति सिद्ध्यन्ति ॥

तेरहवाँ प्रकरण अर्घविवाह संकीर्ण नाम का है। इसमें अनाज के तेजी-मंदी सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं, आगे इसी प्रकरण में विवाह सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर दिया है। ग्रन्थकर्ता ने इस प्रकरण की समाप्ति बहुत ही संक्षेप में कर दी है। इस महत्त्वपूर्ण प्रकरण को अधिक बढ़ाना चाहिये था तथा इस पर विशेष ऊहा-पोह की आवश्यकता थी; किन्तु आठ-दस श्लोकों में ही इसे पूरा कर दिया है।

चौदहवाँ रोग प्रकरण है। इसमें किसी व्यक्ति के रोगी होने पर उसके अच्छा होने न होने तथा रोग की अवधि का वर्णन किया गया है। साधारणतया यह प्रकरण अच्छा है, संक्षेप में सभी आवश्यक फल बतला दिया गया है।

पन्द्रहवाँ भोजन प्रकरण है। इसमें आयों के अनुसार भोजन सम्बन्धी रसों का निरूपण किया है। स्वर शास्त्र में भोजन ग्रहण की जो प्रक्रिया बतलाई गई है कि अमुक स्वर के चलने पर अमुक प्रकार के पदार्थों का सेवन करना चाहिये तथा अमुक स्वर के चलने पर भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिये। इसी प्रकार इस आय प्रकरण में भी लगभग इसी भोजन विधि का वर्णन है। प्रकारान्तर से यह भी ज्ञात किया जा सकता है कि कोई व्यक्ति पूछे कि मै कैसा भोजन कर के आ रहा हूँ या मैं कैसा भोजन करूँगा, इस प्रश्न का उत्तर भी दिया गया है।

सोलहवाँ गमनागमन नामक प्रकरण है। यह प्रायः सभी प्रकरणों से बड़ा है। प्रतिपाद्य विषय का विवेचन इस प्रकरण में अच्छी तरह किया गया है। इसकी शैली मौलिक है, विषय और वर्णन दोनों ही दृष्टियों से यह प्रकरण महत्वपूर्ण है। पथिक के आने के सम्बन्ध में गवेषणापूर्वक प्रश्नों के उत्तर दिये गए हैं। आयों के पात, शत्रुत्व, मित्रत्व, स्वरूप संचार प्रभृति सभी दृष्टियों का समन्वय इस प्रकरण में किया गया है।

सत्रहवाँ जयाजय नाम का प्रकरण है। इसमें युद्ध, मुकद्दमा आदि की हार-जीत के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। इस प्रकरण में भी आचार्य ने पात आदि का सूक्ष्म विचार किया है। इस प्रकरण की शैली इस विषयक अन्य ग्रन्थों की शैली से भिन्न प्रतीत होती है।

अठारहवाँ गर्भ नामक प्रकरण है। इसमें गर्भस्थ सन्तान पुत्र या कन्या है तथा यह गर्भमोचन कब तक होगा, प्रभृति प्रश्नों का उत्तर दिया है।

उन्नीसवाँ वर्षाधान्य प्रकरण है। इसमें वृष्टि, अतिवृष्टि, अनावृष्टि सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। तथा अमुक वर्ष में कृषि किस प्रकार की होगी, यह भी बताया गया है। प्रश्नशास्त्र की दृष्टि से यह प्रकरण मौलिक और महत्त्वपूर्ण है।

बीसवाँ नाम प्रकरण है। इसमें चोर का नाम अथवा प्रश्न के अनुसार अन्य व्यक्ति का नाम निकाला गया है। नाम निकालने की प्रक्रिया यह है कि नाम के आदि वर्ण के

स्वर और व्यञ्जनों का विश्लेषण आय के स्वरूप, संचार आदि से किया गया है। यह प्रकरण काफी बड़ा है तथा गमनागमन प्रकरण के समान उपयोगी भी है।

अन्तिम उपसंहार में एक दो मन्त्र दिये गये हैं और आयों के सम्बन्ध में अन्य ज्ञातव्य बातें बतलाई गई हैं।

ग्रन्थ का प्रारम्भिक भाग—

श्रीनागेन्द्रनरेन्द्रत्रिदशेन्द्रैरर्चितं जिनं नत्वा।
वीरं श्रीजितकुसुमशरं कथयाम्यहमायसद्भावम् ॥१॥

मुक्ताभरणा पल्लवपरिधाना विधृतपल्लवाग्रकरा।
या श्यामरक्तवर्णा पुलिन्दिनी दिशतु मे बोधम् ॥२॥

सुग्रीवादिमुनीन्द्रैः रचितं शास्त्रं यदायसद्भावम्।
तत्सम्प्रत्यार्याभिर्विरच्यते मल्लिषेणेन ॥३॥

ध्वजधूमसिंहमण्डलवृषखरगजवायसा भवन्त्यायाः।
ज्ञायन्ते ते विद्भिरिहैकोत्तरगणनयाचार्यैः ॥४॥

अन्तिम भाग—

कथयतु भूतभविष्यत् प्रवर्तमानादिकं त्रिलोकेऽस्मिन्।
सिद्धेयं सचिदेवी निमित्तवित् करतलामलकम् ॥१६४॥

अन्यस्य न दातव्यं मिथ्यादृष्टेस्तु विशदविद्येयम्।
शपथं च कारयित्वा जिनवरदेव्याः पुरः सम्यक् ॥१६५॥

विहिउत्ति नालियाओ तकालिय छत्तिउत्त चउगुणिय।
पण (पण) रसे विहिच भणन्ति सेसे विओ आओ ॥१६६॥

॥ इत्यायसद्भावप्रकरणं समाप्तम् ॥

जैन सिद्धान्त भवन,
आरा।

जयपुर के मन्दिरों के कतिपय प्रतिमा लेख

दिवानजी का मन्दिर (सवाई माधौपुर)

१ पीतल १ फुट ऊँची[1], लेख—सं० १६७१ वर्षे आसाढ़ सुदी ११ सोमवार श्री० मू० संघ बला० कुन्दकुन्दादि आमनाये भ० रतनकीर्त्ति उपदेशात् आचार्य श्री हेमकीर्त्ति साह ब्रह्ममेघ राजन्यत्व प्रणमति ज्ञाति हुमड़....... ....

२ श्वेत पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १८२६ वैसाख शुक्ला ६ गुरुवार माधोपुरे महाराज पृथ्वीसिंह श्रीमूलसंघे नंद्यगणामनाये भ० श्रीसुरेन्द्रकीर्त्ति तदाम्नाय संगई नन्दलाल पुत्र मोतीराम प्रतिष्ठा कारापिता।

३ पीतल १॥ फुट ऊँची, लेख—स० १८२६ वैसाख सुदी ६ गुरुवार माधोपुरे महाराज पृथ्वीसिंघजी श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे नन्द्याम्नाय भ० सुरेन्द्रकीर्त्ति तदाम्नाय संगई नन्दलालपुत्र मीतीलाल प्रतिष्ठा कारापिता।

किला रतन भवरगढ़ माधौपुर

१ गेहुँआ वर्ण, ३ फुट ऊँची, लेख—सं० १० वैसाख सुदी ३ श्रीमूलसंघ भट्टारक .....

पंचायती बीसपन्थी मन्दिर—

१ पाषाण २ फुट ऊँची, लेख—सं० १४१४ माघ शुक्ला ५ श्री......पर नगरे श्रीकुन्द-कुन्दादि परम दिगम्बर प्रसादात् श्री सकलसंघ आनन्द ददातु .।

२ पाषाण १॥ फुट ऊँची, लेख—सं० १८६१ वैशाख शुक्ला ५ सोमवार सवाई जै नगरे भ० सुखेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् संगई रायचन्देन जिनबिम्ब .....

सामलजी का मन्दिर और भसावड़ी का मन्दिर—

१—सं० १८२६ वैशाख सुदी ६ गुरुवार माधोपुरे पृथ्वीसिंघ राज्ये श्रीमूलसंघेन नन्द्यामनाय भ० सुरेन्द्रकीर्त्ति तदामनाय संगई निंदलाल पुत्र मोतीलाल प्रतिष्ठा करापिता।

तेरापन्थी मन्दिर—

१ श्यामवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १८६१ वैसाख सुदी ५ सवाई जै नगरे मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे भ० सुखेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् सं० रायचन्देन प्रतिष्ठा करापिता......।

गोदी का मन्दिर (सागानेर)

१ श्वेतवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १७४६ भादवावदी ६.........।

१—प्रतिमाओं के नाम संग्रहीत न होने के कारण नहीं दिये जा सके हैं।

गोधा का मन्दिर—

१ श्यामवर्ण १ फुट, लेख—स० १७८३ वैशाख सुदी ६
प्रतिष्ठि ।

२ लेख—स० १६६० फागुनवदी ४ भ० चन्द्रकीर्ति ।

३ श्वेतवर्ण पाषाण २ फुट ऊँची, लेख—स० १६१२ आषाढ़ वदी १ रविवार श्रीमूलसंघ बला० सर० प्रभाचन्द्र ने तु० भ० चन्द्रकीर्तिदेव तदाम्नाय खण्डेलवाल मेखा गोने

४ लेख—स० १८६१ वैशाख सुदी ५ सौ० सवाई जै नगरे मूलसंघे बला० सर० भ० सुखेन्द्रकीर्ति उपदेशात् स० रायचन्द्रेन प्रतिष्ठा कारापिता।

पण्डितजी का मन्दिर (आमेर)—

१ पाषाण, गेहुँआवर्ण ३ फुट ऊँची, लेख—स० १२०५ माघ शुक्ला ५

मन्दिर मुंशी गोविन्दरामजी—

१ श्यामवर्ण, पाषाण २ फुट ऊँची, लेख—स० १८६१ वैशाख सुदी ५ सोमवासरे सवाई जै नगरे भ० सुखेन्द्रकीर्ति उपदेशात् स० रायचन्द्रेण प्रतिष्ठा कारापिता।

बड़ा मन्दिर तेरापन्थी—

१ श्वेतवर्ण, पाषाण १॥ फुट ऊँची, लेख—स० ११२५ माघसुदी ६ पत्तापगढनगरे कुन्दकुन्दादिपरमदिगम्बरगुरूपदेशात् प्रतिष्ठित इद जिनबिम्बम्।

२ श्वेतवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख स० ११८३ माघवदी ८ प्रतिष्ठित कारापित

ठोल्या का मन्दिर—

१ पीतल १॥ फुट ऊँची, लेख—स० १५४८ वैशाख सुदी ३ श्रीमूलसंघे भट्टारक जिनचन्द्र स० जीवराजपापडीवालेन प्रतिष्ठा कारापिता।

मन्दिर गुमानपन्थी बधीचन्द्रजी का—

१ स० १८६१ मिती वैशाख शुक्ला ५ सोमवासरे सवाइ जै नगरे भट्टारक सुखेन्द्रकीर्ति उपदेशात् संघई रायचन्द्रेण प्रतिष्ठा कारापिता।

मन्दिर छावड़ा का जयपुर—

१ स० १८६१ वैसा० शु० ५ सो० सवाई जै नगरे श्रीमूलसंघे दि० आमनाय बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्य आमनाय भ० श्री क्षेमकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० सुरेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे देवालिमतिनुलये भ० सुरेन्द्रकीर्तिउपदेशात् खण्डेलवाल अन्वय छावड़ा गोत्रे दीवाजी श्री बालचन्द्रजी पचपुत्र प्र० पुत्र दीवान जयचन्द्र द्वि०

हरिश्चन्द्र तृ० सं० रामचन्द्र तद् भार्या रायादे च० विष्णुचन्द्र पं० कृष्णचन्द्र एतेषां मध्ये धर्मधुरन्धर जिनमत उद्योतकरण धर्मवृद्ध्यर्थं सं० रायचन्देन प्रतिष्ठिता।

२ श्वेतवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १८५२ वैसाखमासे शुक्लपक्षे ५ तिथौ आमेरदुर्गे महाराजा श्री दौलतरामजी राज्ये श्रीमूलसंघे भ० भुवनकीर्त्ति उपदेशात् सं० धर्मदासेन ....

३ लेख—सं० १६४८ वैसाखशुक्ला ८ भ० भुवनकीर्त्ति... .... ।

४ लेख—सं० १८२६ वैशाख सुदी ६ माधौपुरे पृथ्वीसिंह राज्ये भ० सुरेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् सं० नन्दलालेन प्रतिष्ठिता।

काला का मन्दिर—

१ श्वेतवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १८६१ वैशाख सुदी ५ सवाई जै नगरे मूलसंघे बला० सरस्वती ग० भ० सुखेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात्... ..... ।

२ श्यामवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १९५२ वैशाख मासे शु० ५ अजमेर दुर्गे श्री मूल० भ० भुवनकीर्त्ति उपदेशात्।

सिवाड़ वाकलीवाल का मन्दिर—

१ श्यामवर्ण पाषाण १॥ फुट ऊँची, लेख—सं० १९३५ माघशुक्ला ३ काष्ठासंघे लोहाचार्य भ० राजेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् ... . ।

२ श्यामवर्ण पाषाण २ फुट ऊँची, लेख—सं० १८२६ वै० सुदी ६ माधौपुरे पृथ्वीसिंह राज्ये भ० सुरेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् सं० नन्दलालेन प्रतिष्ठा...... ।

खोगों का मन्दिर सागानेर (जयपुर)—

१ रक्तवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १८६१ वैशाख शुक्ला ५ सोमवार सवाई जै नगरे मूल संघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे भ० सुखेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् सं० रायचन्द्रेन प्रतिष्ठा कारापिता।

२ श्वेतवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—वैसाख ८ पं० जसकीर्त्ति .... ।

मन्दिर दुर्गापुरा—

१ श्यामवर्ण, पाषाण २ फुट ऊँची, लेख—सं० १८५२ वैसाख सुदी ५ अजमेर दुग भ० भुवनकीर्त्ति ... . ।

२ श्वेतवर्ण पाषाण १॥ फुठ ऊँची, लेख—सं० १२४८ मिती...................मूल सं० भ० जठराकीर्त्ति श्री कृष्णदासेन प्र० .. ..

नेमजी लुहाड्या का मन्दिर—

१ सं०-११३५ माघशुक्ला ३ काष्ठासंघे लोहाचार्य भ०... ... ।

ठोल्या का मन्दिर सागानेर—

१ श्वेतवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—स० १४५७ वैसाख सुदी ३ भ० जसधरजी ।
२ स० १५३६ वैसाख सुदी ३ भ० अमरेन्द्रकीर्ति ।
३ स० १६४२ वैशाख सुदी ५ ।
४ सं० १५४८ वैसाख सुदी ३ मूल० भ० जिनचन्द्र उपदेशात् ।
५ श्वेतवर्ण, पाषाण १॥ ऊँची, लेख—स० १६४८ वैशाख सुदी ६ श्री मूल० स० ब० भ० प्रभाचन्द्र । ।
६ श्यामवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—स० १७७३ फालगुनमासे भ० देवेन्द्रकीर्ति

दारोगाजी का मन्दिर जयपुर—

१ बादामी वर्ण, पाषाण १॥ फुट ऊँची, लेख—स० १८६१ वैशाख शुक्ला ५ सोमवासरे सवाई जै नगरे श्रीमूलसंघे तद आमनाय बला० सर० भ० सुखेन्द्रकीर्ति उपदेशात् ।
२ सं० १८२६ वैसाखमासे शुक्लपक्षे तिथौ ६ माधोपुर नगरे सवाई पृथ्वीसिंह राज्ये मूलसंघे सा० भ० सुरेन्द्र० उ० संगई नन्दलालेन प्रतिष्ठा करापिता ।
३ स० १७८० भ० देवेन्द्रकीर्ति ।

सोन्या का मन्दिर—

१ स० १८५२ वैशाख शुक्ला ५ अजमेर दुर्गे स० दौलतरायजी तदान्वा भिदाई मिराजी मानाराज भ० श्रीभवनकीर्ति उपदेशात् स० धर्मदासगगवालेन प्रतिष्ठा करापिता ।
२ सं० १७६४ मिति माघशुक्ला १३ महाराजाधिराज श्री जयसिंगजी प्रसादात् राज्ये भ० महेन्द्रकीर्ति तखत सि० ।
३ स० १४५७ वैशाखसुदी ७ मूल स० भ० श्री धरमविजय प्रसादात् प्रतिष्ठितम् ।

मन्दिर कालेडेरा महावीर स्वामी—

१ स० १८६१ वैशाखशुक्ला ५ सोमवार सवाई जै नगरे श्रीमूलसंघे तदामनाय बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे भ० सुखेन्द्रकीर्ति उपदेशात् दीवानजी बालचन्द्र प्रतिष्ठा करा
२ स० १८५२ वैशाख, शु० ५ अजमेर दुर्गे भ० श्रीभवनकीर्ति उपदेशात् ।
३ स० १७८३ वैशाख सुदी ३ भ० सुरेन्द्रकीर्ति उपदेशात् ।
४ श्वेतवर्ण पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—स० १५४८ वैशाख शुक्ला ३ श्रीमूलसंघे भ० श्रीजिनचन्द्र स० जीवराजपापड़ीवालेन प्रतिष्ठा करापिता ।

मन्दिर दीवानजी—

१ श्यामवर्ण, पाषाण २॥ फुट ऊँची, लेख—सं० १९२४ माघशुक्ला ३ काष्ठासंघे लोहाचार्य भ० राजेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात .... ।

मन्दिर भावसान—

१ श्यामवर्ण, पाषाण १॥ फुट ऊँची, देख—सं० १९२४ माघ शुक्ला ३ काष्ठासंघे लोहाचार्य भ० राजेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् .. .. ।

२ सं० १९२५ माघशुक्ला ६ पर० भ० श्री कुन्द० परम दिग० गुरु उपदेशात् प्रतिष्ठितं ।

३ सं० १९५५ माघ शुक्ला १२ भ० प्रतिष्ठितं जिनबिम्बम् ।

मेघराजजी का मन्दिर—

१ श्यामवर्ण, पाषाण १॥ फुट ऊँची, लेख—सं० १८८३ माघसुदी ५ मूलसंघे भ० जिनेन्द्रभूषन पट्ट ग्वालियर का महेन्द्र भू० दिल्ली का टोंग्या अमीचन्देन बाड़ी नगरे प्रतिष्ठा कारापितम् .. .. ।

मन्दिर गुमानपंथी बंधीचन्दजी का—

१ श्वेतवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १५४८ वैशाखसुदी ३ श्रीमूलसंघे भ० जिनेन्द्रभूषन सं० जीवराज पापड़ीवाल तिष्ठा कारापितं ।

२ सं० १८८३ माघशुक्ला ५ गुरुवार भ० महेन्द्रभूषण .. .. ।

३ सं० १८५२ वैसाखसुदी ५ अजमेर दुर्गे भ० भवनकीर्त्ति उपदेशात् सं० धर्मदास गंगवाल प्रतिष्ठा करापितं .. .. ।

४ सं० १८६१ वै० शु० ५ सोमवार सवाई जै नगरे भ० सुखेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् सं० रायचन्द्रेन करापितं इदं जिनबिम्बम् ।

५ सं० १७८३ वैशाख वदी ८ बुधवार श्रवण नक्षत्र.......................... .. ।

६ सं० १७९४ महा (माघ) शुक्ला १३ मारोठ नागरे महाराज श्री अभयसिंहजी प्रसादात् मेड़ता राज्ये श्रीबखतसिंहजी मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगछे (च्छे) मंगल्याधाम श्री भ० दत्तकीर्त्ति उपदेशात् श्री आनन्ददेव नाम महेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात्.......... ।

निगोतियों का मन्दिर—

१ श्वेतवर्ण, पाषाण २ फुट ऊँची, लेख—सं० १९२१ फागुन सुदी १२ बुधवार श्रीकुन्दकुन्दादि परमदिगम्बरगुरूपदेशात् जैपुर........................ ।

२ सं० १८२४ माघसुदी ६ परतापगड़नगरे कुन्दकुन्दादिपरमदिगम्बरउपदेशात् जिनबिम्बं प्रतिष्ठितम् ।

३ स० १८८३ भा० शु० ५ मूलसंघे भ० जिनेन्द्रभूषणैः ग्वालियर का महेन्द्रभूषण पट्ट दिल्ली का टोंग्या अमीचन्देन प्रतिष्ठित वाड़ीनगरे। ।

नया मन्दिर—

१ श्यामवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—उ० १८५७ माघसुदी १५ खुनानगरे प्रतिष्ठितम्।

मन्दिर बूचरा पचायती—

१ श्वेतवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—स० ११७ सावन वदी ६ ।

२ स० १८४६ वैशाखसुदी ५ भ० महेन्द्रकीर्ति ।

३ स० १२४८ वैशाखसुदी ३ श्रीमूलसंघे भ० जिनचन्द्र सं० जीवराज पापड़ीवाल प्रतिष्ठा करापित।

श्रीजैनसिद्धान्त भवन, आरा] [क्रमशः

साहित्य-समीक्षा

महाबन्ध (महाधवल-सिद्धान्त-शास्त्र) प्रथम भाग, प्रकृतिबन्धाधिकार हिन्दी भाषानुवाद सहित—रचयिता : भगवान् भूतबलि; सम्पादक : पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर शास्त्री, न्यायतीर्थ; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृष्ठ संख्या : ७६ + ३४८; मूल्य : बारह रुपये।

जिस ग्रन्थराज के दर्शन के लिये श्रद्धालु जनता लालायित थी, वही महाधवल सिद्धान्त-शास्त्र आज समाज के समक्ष मुद्रित रूप में विद्यमान है। श्री० पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर ने इसकी प्रतिलिपि प्राप्त करने के लिये बहुत अध्यवसाय किया है तथा विद्वत्ता पूर्वक इसका सम्पादन भी कर समाज के सम्मुख रखा है, इसके लिये वह अभिनन्दनीय हैं। इस प्रथम भाग में बन्ध का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में सम्पादक ने विद्वत्तापूर्ण ७६ पृष्ठों में प्रस्तावना लिखी है जिससे ग्रन्थ का प्रायः समस्त विषय हृदयंगम हो जाता है। प्रस्तावना में कर्म स्वरूप, आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध कर्मों के आस्रव के कारण योग, अस्रव के उत्तर क्षण में होनेवाले बन्ध, कर्मों का विभाजन, बन्ध के प्रकार, आदि विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। महाबन्ध के विषय के सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि नाम से ही विषय का परिज्ञान हो जाता है।

प्रस्तुत सम्पादन के सम्बन्ध में दो-चार शब्द लिखना आवश्यक प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ की हिन्दी टीका में अनेक त्रुटियाँ मालूम पड़ती हैं। पृ० १५०, १५३, १५५, ३२२ पर अनुवाद भी कुछ खटकता-सा है। जैन सन्देश में श्री नेमिचन्द्र वकील सहारनपुर ने अनेक बातों को दिखलाया है।

ग्रन्थ की छपाई-सफाई बहुत अच्छी है। इस महत्त्वपूर्ण साहित्य के प्रकाशन के उपलक्ष में ज्ञानपीठ की प्रशंसा भी करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। समस्त स्वाध्याय प्रेमियों को इसे मंगाकर स्वाध्याय कर पुण्य लाभ लेना चाहिये।

—ब्र० पं० चन्दाबाई विदुषीरत्न

दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ (जैन कथा कहानियाँ)—लेखक, डा० जगदीशचन्द्र जैन; प्रकाशकः ज्ञानपीठ काशी; मूल्य ३) रुपये।

इस संग्रह की कहानियाँ लौकिक, ऐतिहासिक और धार्मिक इन तीनों भागों में विभक्त हैं। जैन साहित्य की प्राचीन मनोरंजक सुन्दर ये कहानियाँ जनता के चरित्र निर्माण में सहायक होंगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेखक ने इनके संग्रह करने में अत्यधिक श्रम किया है। कहानियों की भाषा सुन्दर परिष्कृत है तथा आबाल-वृद्ध सभी के लिये ये समान रूप से उपकारी हैं। शिक्षित और अशिक्षित सभी के लिये इनका महत्त्व है। व्याख्यान दाताओं और कथा वाचकों को इनका उपयोग अवश्य करना चाहिये। इनके

उदाहरणों से केवल जनता का मनोरंजन ही नहीं होगा, बल्कि उसके चरित्र का भी विकास होगा। हिन्दू, जैन, बौद्ध आदि सभी सम्प्रदाय वालों को इनका स्वाध्याय कर प्राचीन कथा साहित्य के तत्त्वों का परिज्ञान करना चाहिये। छपाई-सफाई अच्छी है।

—हरिनन्दन त्रिपाठी व्याकरणाचार्य

हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त जैन इतिहास— लेखक श्री बा० कामताप्रसाद जैन डी० एल०, एम० आर० ए० एस०, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी पृष्ठ संख्या २६६, मूल्य दो रुपये चौदह आने।

इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् बा० कामता प्रसाद जी के नाम से जैन समाज भलीभाँति परिचित है। प्रारम्भिक जीवन से आजतक आप इस विषय पर अन्वेषण करते चले आरहे हैं, प्रस्तुत पुस्तक में आपने हिन्दी जैन साहित्य के इतिहास पर प्रकाश डाला है। आपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में हिन्दी जैन साहित्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए हिन्दी भाषा की उत्पत्ति का मूल जैन साहित्य को ही बताया है तथा हिन्दी जैन साहित्य के इतिहास का कालविभाग करते हुए उसे प्रधानतः आदि काल (समय ११ वीं से १४ वीं शताब्दी), मध्यकाल (१५ वीं से १७ वीं सदी तक) और परिवर्तन काल (१८ वीं सदी से १९ वीं सदी तक) इन युगों में विभक्त किया है। आदिकाल में अपभ्रंश और देशी दोनों ही प्रकार की भाषाओं में रचना मिलती है। इसी काल के अपभ्रंश भाषा के प्रसिद्ध महाकवि पुष्पदन्त एवं देशी भाषा के धर्मसूरि, विनयचन्द्र सूरि और अम्बदेव का विस्तृत जीवन चरित और रचनाओं के सम्बन्ध में बताया गया है।

मध्ययुग के जैन हिन्दी साहित्य निर्माताओं में कविवर बनारसीदास, राजमल्ल, विनयचन्द्र और विद्याभूषण आदि प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं का परिचय कराया गया है। यद्यपि पुस्तक में कुछ भूलें रह गई हैं, फिरभी लेखक ने अन्य साहित्यिकों के समक्ष एक आदर्श रखा है इसके लिये वह धन्यवाद के पात्र हैं। अगले संस्करणों में गलतियों का परिमार्जन कर देना अत्यावश्यक है।

आत्म समर्पण—लेखक श्रीपालचन्द्र जैन विशारद, प्राप्तिस्थान साहित्य सदन भदैनी घाट काशी, पृष्ठ संख्या १२६, मूल्य पौने दो रुपये।

इस पुस्तक में १५ जैन कहानियां हैं। यद्यपि इन कहानियों का कथानक पुराना है तथा प्रत्येक जैन उससे परिचित है, किन्तु लेखक ने उसे इतने नवीन ढंग से रखा है जिससे प्रत्येक पाठक को ये कहानियाँ अपनी ओर सहसा आकृष्ट कर लेती हैं। लेखक की भाषा परिमार्जित है, छपाई-सफाई सुन्दर है। प्रत्येक कहानी प्रेमी पाठक को इस नई शैली का रसास्वादन अवश्य करना चाहिये।

—नेमिचन्द्र जैन शास्त्री

आधुनिक जैन कवि—सम्पादिका : श्रीमती रमादेवी जैन; प्रकाशक: भारतीय ज्ञान-पीठ काशी; पृष्ठ संख्या २५६; मूल्य : तीन रुपये बारह आने।

समस्त जैन कवियों की रचनाएँ युगप्रवर्तक, युगानुगामी, प्रगतिप्रेरक, प्रगतिप्रवाह, ऊर्मियाँ, गतिहिलोर और सीकर इन सातवर्गों में विभक्त कर प्रत्येक कवि के आलोचनात्मक परिचय के साथ संकलित की गई हैं। इस संकलन में पं० नाथूराम प्रेमी, पं० जुगलकिशोर मुख्तार, गुणभद्र आगास, पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ, पं० दरबारीलाल सत्यभक्त, बा० अयोध्या प्रसाद गोयलीय, बा० कल्याणकुमार 'शशि', बा० हुकमचन्द्र बुखारिया, भगवत् स्वरूप 'भगवत' आदि ९२ कवियों की रचनाएँ संकलित की गई हैं। कतिपय रचनाएँ तो भाव, भाषा और रसपरिपाक की दृष्टि से उत्कृष्ट कही जा सकती हैं। सम्पादिकाजी के समीक्षात्मक कवि परिचय ने इस संग्रह के सौन्दर्य को कई गुना बढ़ा दिया है। कविता प्रेमी प्रत्येक पाठक को इसे मँगाकर पढ़ना चाहिये। सम्पादन सुन्दरतम हुआ है, छपाई-सफाई श्रेष्ठ है।

मुक्तिदूत—लेखक : श्रीवीरेन्द्र कुमार जैन एम० ए०; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृष्ठ संख्या : ३१६; मूल्य : चार रुपये बारह आने।

अंजना-पवनंजय के पौराणिक प्रणय आख्यान को लेकर इस उपन्यास की रचना की गई है। लेखक ने आख्यान का आरम्भ मान सरोवर के तट से किया है, जहाँ पवनञ्जय के पिता अपने परिवार के साथ कैलाश की वन्दना कर वसन्तविहार के लिये ठहरे हुए हैं। इस उपन्यास के प्रधान पात्र अंजना और पवनंजय हैं तथा इन दोनों के सहयोगी वसन्त और प्रहस्त भी हैं। अंजना का चरित्र लेखक ने आदर्श पतिव्रता, धर्मपरायणा एवं जैन संस्कृति के वातावरण में निखरा हुआ उपस्थित किया है। परिस्थितियों के घात-प्रतिघातों ने चरित्र को और भी उज्वल बना दिया है। लेखक महोदय को इस पौराणिक उपन्यास के निर्माण में सबसे अधिक सफलता है। आज हमारे देश को इस प्रकार के चारित्रिक उत्कर्ष दिखलाने वाले उपन्यासों की नितान्त आवश्यकता है, समाज का नवनिर्माण ऐसे ही साहित्य के द्वारा हो सकता है। उपन्यास की भाषा प्रौढ़ और परिमार्जित है; प्रसाद की भाषा का आनन्द इसमें मिलता है। ऐसे सुन्दर उपन्यास के प्रकाशन के लिये लेखक और प्रकाशक दोनों ही अभिनन्दनीय हैं। प्रत्येक सुरुचि सम्पन्न पाठक को इससे लाभ उठाना चाहिये। छपाई-सफाई, गेटप आदि अत्यन्त सुन्दर हैं। ज्ञानपीठ के व्यवस्थापकों की कलाप्रियता प्रशंसनीय है।

—चन्द्रसेन जैन बी० ए०

पथ-चिन्ह—रचयिता : हिन्दी के स्वनामधन्य लेखक पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी; काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पं० केशव प्रसाद मिश्र द्वारा लिखित

"पूर्वाभास" से समलङ्कृत, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृष्ठ संख्या १११ और मूल्य २)।

हिन्दी साहित्य को महादेवी वर्मा लिखित "स्मृति की रेखाएँ" के बाद यह एक दूसरी कवित्वमयी और प्रामाणिक आत्म कहानी प्राप्त हुई। पुस्तक का प्रथम परिच्छेद जो 'आहुति' नाम से अभिहित है लेखक की मातृस्वरूपा, बाल विधवा स्व० बहिन की करुण गाथा है। उस बहिन की कहानी भारतीय आदर्श नारी की कहानी है। उस ब्रह्मकन्या की अन्तरदृष्टि, शुचिता, परदुःख कातरता और उत्सर्ग आज अज्ञान से तमच्छादित बीहड़ पथ में आकाशदीप की तरह पथ प्रदर्शन के लिए पर्याप्त है। तपस्विनी बहिन की तपस्या, सन्यासी पिता का त्याग और अध्यात्मबल लेखक को प्राप्त हुआ। इस प्रकार संसार के कर्दम से दूर एक नैसर्गिक वातावरण में लेखक का विकास हुआ जो उसकी कृतियों द्वारा निर्मल विचारों में परिलक्षित होता है।

आहुति के अतिरिक्त, 'अभिशापों की परिक्रमा' 'पर्य्यवेक्षण' और 'अन्त संस्थापन' ये तीन अन्य परिच्छेद हैं जिनके द्वारा लेखक के प्रौढ़ आत्म विकास तथा गंभीर चिन्तन का पता मिलता है। जीवन और जगत की समस्याओं पर अपने विचार प्रकट करते हुए आप कहते हैं कि राजनीति और अर्थतन्त्र के शुष्क धरातल पर श्रद्धा विहीन बौद्धिक विकास प्रत्येक मानव के हृदय में हाहाकार मचाए हुए है। सब की मुखाकृतियाँ स्वार्थ के आर्थिक ढाँचे में जघन्य हो गई हैं। आज बालक के होठों पर भी भोलापन नहीं है। जगत अहम् की चिन्ता से त्राहि त्राहि कर रहा है। वर्तमान आङ्ग्ल शिक्षण संस्थाओं तथा विश्व विद्यालयों की कटु निन्दा करते हुए आप कहते हैं कि ये विश्वविद्यालय केवल जीविका के साधन तथा महत्ता के शुष्क और नग्न प्रदर्शन मात्र हैं। राजनैतिक पार्टियों के प्रति अविश्वास प्रकट करते हुए आप कहते हैं कि नेतृत्व के प्रलोभन में शुष्क हृदय से बनाई हुई सुधार की आज सारी योजनाएँ मानव के कल्याण में सफल होती नजर नहीं आतीं। अन्न वस्त्र की मुखापेक्षी साधारण जनता ढोर की तरह है जिसे कोई भी पार्टी आहार विहार का प्रलोभन देकर अपनी ओर आकृष्ट कर सकती है।

जगत जिस जड़ता को प्राप्त हो रहा है उसकी औषधि, लेखक के मतानुसार, भावप्रवणता है। आज भूख और प्यास के युग में वस्तुप्रवण भाव को पसन्द नहीं करेंगे। किन्तु भाव की उपेक्षा कर तृप्ति का शोध हास्यास्पद होगा। भावविहीन होकर ही तो क्षुधानल से आज हम प्रदग्ध हो रहे हैं। अपनी ही संकीर्णता अपने को सारहीन बना रही है।

संस्कृति, सुरुचि और कला के माणिक्य के तीन तत्त्व हैं जिनके द्वारा ही मानव हृदय में स्पन्दन लाया जा सकता है। जब वस्तु में, व्यवस्था में, स्वभाव में, व्यवहार में, आहार

में, विहार में, सुरुचि उत्पन्न हो जायगी तब हमारी संस्कृति कला की अभिव्यक्ति से चिर सुन्दर जान पड़ेगी, तब हमारे मस्तिष्क और हृदय में पूर्ण संतुलन होगा और तब हम शिव को प्राप्त होंगे।

लेखक को अतिधन की तरह अति अध्ययन पर भी विशेष श्रद्धा नहीं है। वास्तव में यदि हम साक्षर होकर खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, उठने-बैठने जैसे जीवन के साधारण व्यापार में अपना दायित्व समझने लगें तो हमारी एक साक्षरता पर आज की अनेक उपाधियाँ न्योछावर की जा सकती हैं। लेखक विनीत शब्दों में कहता है कि यदि मैं ज्ञान आश्रम में लव-कुश ही बना रहूँ यह भी कुछ कम नहीं है।

श्री द्विवेदी की यह छोटी पुस्तक बहुत बड़ा महत्व रखती है। नैतिक ह्रास के इस युग में ऐसे निर्मल साहित्य की बड़ी आवश्यकता है। पतनोन्मुख संसार को भावशास्त्री साहित्यस्रष्टा ही अपनी कलकोमल सर्जना से बचा सकते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में भाषा की प्रौढ़ व्यंजना शक्ति, कवित्वमयी शैली का गुम्फन और अभिव्यंजन की अकृत्रिमता ने पुस्तक के प्रत्येक अंश को रमणीय बना दिया है। तिस पर पं० केशव प्रसाद मिश्र के 'पूर्वाभास' में तथ्यपूर्ण विवेचना से पुस्तक की उपादेयता और भी बढ़ गई है। छपाई-सफाई सुन्दर है।

इस प्रकार के अमूल्य रत्नों के प्रकाशन द्वारा भारतीय ज्ञान पीठ, काशी मानव मात्र का जो कल्याण कर रही है उसके लिए उसे जितना साधुवाद दिया जाय थोड़ा है।

—रामबालक प्रसाद साहित्य रत्न

इन पुस्तकों के अलावा अन्य कई पुस्तकों के साथ साहित्य सदन काशी से प्रकाशित वर्णीवाणी और राजुलकाव्य भी समालोचनार्थ प्राप्त हुए हैं। अन्य पुस्तकों के साथ उनकी समीक्षा अगली किरण में की जायगी।

—संपादक

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १४—वि० सं० २००४, वी० सं० २४७४

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम ए , एल-एल बी , डी फि०

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये एम ए , डी. लिट्

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम आर ए एस , डी एल

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, साहित्यरत्न.



जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में [illegible]) विदेश में ३।) एक प्रति का १।)

ई० सन् १९४८

वार्षिक विषय सूची—भाग १४

(किरण १)

(किरण २)

———:o:———

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XIII JANUARY, 1948 No II

Edited by

Prof Hiralal Jain M A, LL.B, D Phil
Prof A N Upadhye M A, D Litt.
Bau Kamata Prasad Jain, M R A S, D L.
Pt. K Bhujbali Shastri, Vidyabhushana
Pt Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR INDIA

Annual Subscription
Inland Rs 3 Foreign 4s 8d. Single Copy Rs 1/8

CONTENTS.



Om

JAINA ANTIQUARY

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासन जिनशासनम् ॥"
[अकलंकदेव]

Vol XIII
No II

ARRAH (INDIA)

January
1948

A PAṬṬAVALI OF THE SENAGANA

By
Professor Dr A N Upadhye

A copy of the Paṭṭāvalı, which ıs being published here, I got some seventeen years back from Pt Bahubalı Sharma, Sanglı and all these years I tried to get another Ms of ıt with the help of which a more authentic text could be presented In the meanwhile I gave extracts etc. from ıt to some scholars now and then As yet I have not come across any other Ms perhaps the publication of this tentative text itself may attract the attention of some scholars and some Mss may be brought to light by them I have made here and there only minor corrections which do not affect the contents The text is obscure in many places, and linguistic and metrical defects are quite obvious A better text can be constituted only after some more Mss come to light. There are important traditions embedded in this Paṭṭāvalı which deserve our attention, and we must see whether any of these get confirmed by other independent sources Thus in this paper I am presenting not only the tentative text and Name Index but also a few observations on some important items of information mentioned in this Paṭṭāvali

The first nine verses give the account of Teachers beginning with Tīrthakaras and ending with Ācārāṅgadhārins. The tenth verse tells us that this is a Paṭṭāvali of the Mūlasaṁgha, Sena-gaṇa, Puṣkara-gaccha Jinasena, who is said to have succeeded Vṛddha Kumārasena, is credited with the compilation of three crores of texts; and he is called a Poet-creator who expounded Dhavala, Mahādhavala, Jayadhavala and Vijayadhavala.[1] Dharasena and Vīrasena came after him; they studied Siddhānta under Elācārya; Vīrasena is associated with a place Vāṭa; and these two, with Jayasena (?), further elaborated Jayadhavala (12-15)

Siddhasena Divākara is said to have enlightened Vikramāditya at Ujjayanī, perhaps by producing an image of Pārśva from a Liṅga which was broken (16). Samantabhadra succeeded Siddhasena, and produced an image of Candraprabha out of the Bhīmaliṅga at Drākṣābhirāma in the Telugu country (17).

Vīrasena propitiated the Siddhacakra in the Hemnāgumphā on the Raivata; and his successor Jinasena composed the Purāṇa (*vimala-pada-yutam*); he had a guru-bandhu in Daśaratha and his pupil was Guṇabhadra (21-22).

Later another Vīrasena is mentioned as the author of the Padmacaritra (26) Devasena, the successor of Vimalasena, composed five Sāras (27).[2] Mahāsena, the teacher of the King of Sindhu, composed the Pradyumnakāvya (29).[3] One Brahmasena is associated with Ālanda (32). Malliṣeṇa composed various Mantragranthas such as Padmāvatīkalpa etc. (35). Kamalabhadra prescribed Vows or Vratas to Āśādhara (38). Kumārasena (?) pacified the pain of arrows of king Allādikhan; possibly he rescued some people from the jail and is associated with Allāvaddin (39). Śrīdhara held a dispute with Buddhists for months together at Śrīkañcī (40). It appears that Somasena held a dispute with Śivasvāmi of Stambhatīrtha, and Mahamūda Pātasāha was his pupil (41). Śrutavīra went from

1. Compare this with what we definitely know from the Dhavlā etc Intro. Saṭkhaṇḍāgama, pp. 35 f Amaraoti 1939.

2. We know his Ārādhanā-sāra, Tattvasāra and Darśanasāra.

3. Compare the colophon of the Pradyumnacarita: श्रीसिन्धुराजसत्कमहामहत्तम श्रीपप्पटगुरोः महासेनाचार्यकृते प्रद्युम्नचरिते etc. Bombay 1916.

Aṅkuleśvara to Bharvasya and got the Jajiyā tax removed The last monk of the line, mentioned in this Paṭṭāvali, is Lakshmīsena

The text being corrupt, I cannot be sure of the meaning of some passages The Paṭṭāvali, however, notes a few events from traditional memory, and they should be accepted as such and verified with the aid of other sources[1]

[पट्टावलिः]

श्रीमन्मारजितो जयन्ति विमलास्तीर्थंकरा स्वामिनो
वीरान्ता वृषभादिका परिलसत्प्राणिघृणातत्परा ।
येषां सत्स्मरणाद्विशेषनतया पाप विनाशं व्रजेत्
पुण्य चोल्लसतीह धन्यनरता मुक्ति ध्रुव जायते ॥१॥
श्रीमन्तो विमलाशया समभवन् शिष्या गणेशोत्तमा-
स्तेषां रेन्द्रभूतिरथो सुधर्ममितास्तेभ्योऽभवन् सत्तमा ।
रम्या केवलिनोऽथ गौतमविभु सम्यक्सुधर्माख्यका
जम्बूस्वाम्यथ कर्मनिर्जरतया तेषां भवा दूरग ॥२॥
श्रुतकेवलिन पञ्च श्रीविष्णुनन्दिमित्रक ।
ततोऽपराजितश्चेति धर्मो गोवर्धनो भवेत् ॥३॥
भद्रबाहुरिति ख्यातो मुनी तपसि सुस्थिर ।
समर्थ सुधियां श्रेष्ठो मग्नज्ञानगायण ॥४॥
विशाखप्रोष्ठिलौ प्रोक्तौ नक्षत्रजयनाह्वय ।
नागसेनश्च सिद्धार्थो जयसेनसमाह्वय ॥५॥
विजयो बुद्धिलो गङ्गस्तोत्रमनारायण ।
तपांसि द्वादश प्रोक्तो धर्म्ये सत्यभाषन ॥६॥
श्रीगङ्गदेव खलु धर्मसेना एकादशेमे दशपूर्वधार ।
नक्षत्रनामा जयपालसंज्ञ पाण्डु सुधर्मो ध्रुवसेनकंसौ ॥७॥
एकादशाङ्गश्रुतधारिणोऽमी ख्याता जना ज्ञानविनोदरम्या ।
धर्मप्रभावविशेषविज्ञा शीलादिरत्नत्रयविनिश्चितार्था ॥८॥

---

1 Last year I had submitted this paper to Shri Ātmārāma Commemoration Volume But the Press copy of the Volume we learn with sorrow was burnt along with the stocks of Motilal Banarasidas Lahore during the communal disturbances at Lahore soon after the 15th of August 1947

सुभद्रश्च यशोभद्रो यशोबाहुश्च लोहकः ।
एते जयन्ति चत्वारो ह्याचाराङ्गस्य धारिणः ॥९॥
तेषां वंशे मूलसंघे गणेऽस्मिन् सेने रम्ये पुष्कराख्ये च गच्छे ।
श्रीमन्तोऽमी संघभूवुद्धिजेन्द्रा वक्ष्ये तेषामावलिं पट्टभाजाम् ॥१०॥

श्रीमन्तो वृषभादिसेनमुनिपा विज्ञानधूताघकाः
शान्ता दानविचक्षणा जिनमते राद्धान्तसंवेदिनः
आसंवेदनलालसामलमनो भाजन्नराणां सदा
पावित्र्यं कुरुते यदङ्घ्रिकमलं पुण्यं महान्तो बुधाः ॥११॥

तत्पट्टेऽभवदालसाम्बुजलसत्स्वान्तःकृपाभाजनं
श्रीवृद्धादिकुमारसेनमुनिपोऽभूत्संविदा संयुतः ।
तत्पट्टे जिनसेनशुद्धमुनिपः सिद्धान्तगैः प्रादरात्
यः कोटित्रयशास्त्रसंचयकरः सिद्धान्तरत्नाकरः ॥१२॥
धवलो हि महाधवलो जयधवलो विजयधवलश्च ।
ग्रन्थाः श्रीमद्भिरमी प्रोक्ताः कविधात्ररस्नस्मात् ॥१३॥

तत्पट्टे धरसेनकः समभवत्सिद्धान्तगः संशुभः
तत्पट्टे खलु वीरसेनमुनिपो यैश्चित्रकूटे पुरे ।
एलाचार्यसमीपगं द्रुततरं सिद्धान्तमभ्यस्य ये
वाटे चैत्यवरे द्विसप्ततितमं सिद्धाचलं चक्रिरे ॥१४॥
विंशातिसहस्रसुमितं जयधवलं चक्रिरे येऽपि ।
तत्पट्टे चत्वारिंशत्सहस्रसंख्यं च जयसेनो ॥१५॥
श्रीसिद्धसेनादिदिवाकराख्यास्तत्पट्टगा उज्जयनीं विबोध्य
श्रीविक्रमादित्यमंमुत्रलिङ्गं विकीर्य्य पार्श्वस्य विकासका भुवम् ॥१६॥
समन्तभद्राः खलु तत्र पट्टे स्थितास्त्रिलिङ्गे विषये सुतीर्थे ।
द्राक्षाभिरामे खलु भीमलिङ्गं विकीर्य चन्द्राभविकासकाराः ॥१७॥
तत्पट्टे शिवकोटिकः समभवत् श्रीगौरसेनस्ततः
श्रीसेनाथपदश्च लक्षणयुतश्चारित्रसेनस्ततः ।
श्रीभट्टारकपद्मसेनमुनिपः श्रीनन्दिषेणास्तथा
सेनोद्दीपपदादिकः खलु ततः श्रीधर्मसेनः क्रमात् ॥१८॥
सिंहसेनः सर्सिहाख्योऽभयसेनश्च भीमकः ।
शान्तिसेनोऽमितः सेनः कीर्तिसेनस्ततः क्रमात् ॥१९॥

आचार्यवर्या गाम्भीर्यस्थैर्यादिगुणसंयुतः ।
अनन्तवीर्यो भगवान् भव्यानां भवतारकः ॥२०॥
तत्पट्टे वीरसेनो यमदमसहितो रंयतेऽघंते यो - - -
देवनागुरुस्य मध्ये युतिमतिसहितः सिद्धचक्रादियन्त्रम् ।
आसीदुद्धारयुक्तं विमलपदयुतं चक्रिरे तत्र पट्टे
श्रीमज्जैनदिसेनो विमलतरसदृ पौराणिकं चक्रिवान् ॥२१॥
श्रीमद्दशरथाख्याश्च तेषां वै गुरुबान्धवः ।
तच्छिष्या गुणभद्राख्यास्तत्पट्टे लोहसेनकाः ॥२२॥
श्रीनेमिसेनाः खलु तत्र पट्टे श्रीपद्मसेनाः खलु तार्किकाद्याः ।
श्रीवज्रसेनश्च वसन्तसेनो विनीतसेनो विनयेषु धीमान् ॥२३॥
श्रीमत्सागरसेनस्तु विजयश्च मुनीश्वरः ।
तपस्सु द्वादशाङ्गेषु रतो जिनपरायणः ॥२४॥
पिपिलसेनाः खलु पूर्णभद्रः श्रीकाञ्चनादिः खलु भद्रकाश्च ।
श्रीविष्णुसेनः खलु माणिकाख्यः श्रीलक्ष्मणाख्यः खलु सेनकाश्च ॥२५॥
तत्पट्टे वरवीरसेनमुनिपो भूयो वरज्ञानकः
श्रीपद्मादिचरित्रकारिण इमे यत्कान्तराय तपः ।
उग्रं यन कृतं तथा गुणगणो यस्मिन्पदे रम्यके
चक्रे ज्ञानविधूतकल्मषचयो मारामयः सविद् ॥२६॥
श्रीमच्छिवसेनस्तु देवसेनस्ततः परः ।
सारं पञ्चविधं येन चक्रे ज्ञानवरेण हि ॥२७॥
वैयाकरणसेनार्या वैय्याकरणशङ्कराः ।
श्रीमन्तो जयसेनाश्च ध्यानाग्नितपसो गुणाः ॥२८॥
तत्पट्टे गुणसेनकः खलु महासेनस्ततो भाविकः
श्रीसिन्धुरुरुमहिमृतरथगुरुः प्रद्युम्नकाख्यः ततो ।
आचार्यो भरसेननाममुनिपो योऽनन्तवीर्यो गुणी
राज्ये राजति राजमल्लमुनिराट् श्रीवीरभद्रस्ततः ॥२९॥
श्रीरामभद्रो मुनिनागसेनो महेन्द्रसेनो मुनिभद्रनामा ।
श्रीजैनमार्गाभिधविश्वनाथ राकापतित्वं समुपागतास्ते ॥३०॥
श्रीसूरीश्वरधुर्य्यविबुधो विद्वज्जनानन्दनो
धार्मीमानविमर्दनो विश्वपठे श्रीवीरसेनो यतिः ।

श्रीछत्रादिपरादिमाः खलु ततः सेनास्ततश्चार्यका
सेना न ·························स्तत्क्रमाच्चायिमाम् ॥३१॥
ब्रह्मसेनस्ततः पट्टे बभूव गुणिनां गुणी ।
अलंकृतनगरे येन ब्रह्मज्ञानेन संयुजा ॥३२॥
शान्तिनाथप्रसादेन चक्रे सिद्धान्तवेदिनाम् ।
कृपापरेण विदुषां ज्ञानधूर्ता हि सा किल ॥३३॥
श्रीमल्लिषेणा मुनयो बभूवुर्गुणेषु तारचैव तपोनिषक्ताः ।
नानाविधध्वान्तनिवारणैकविज्ञानदक्षाः खलु धर्मरक्ताः ॥३४॥
पद्मावतीकल्पमुखास्तु मन्त्रग्रन्थाः कृता येन सुधीवरेण ।
पञ्चाधिका विंशतिरत्र जाता शास्त्रस्य मंत्रार्थविनिश्चयाय ॥३५॥
तत्पट्टे वरवाडदेवभुवने त्रैविद्यपुष्पार्चिकः
सेनावादिविवादमस्तकतुदः श्रीहेमसेनस्ततः ।
तत्पट्टे ह्यभयादिसेनमुनिपो लक्ष्म्यादिभद्रस्ततः
श्रीमज्जैनमते विचक्षणतरा धीमधुवरिस्वामिनः ॥३६॥
श्रीपार्श्वसेना विजयादिसेनाः श्रीराजसेना अजितादिसेनाः ।
त्रैविद्यचक्रेश्वरपूर्णवर्णा नरेन्द्रसेना नयसेनसंज्ञाः ॥३७॥
श्रीसूरसेनाः कमलादिभद्रा आशाधरस्य व्रतदायिनोऽमी ।
देवेन्द्रसेनाः सुकुमारसेना अभोजनादिव्रतपःप्रकारिणः ॥३८॥
उद्दण्डादिविहारपञ्चकशुभप्रावेशसंभाषणा—
दह्लादेः खलु खानसंज्ञनृपतेर्वाणगाथाहारिणः ।
कारासंज्ञनिवासिनां च कृपया बंधं समाविच्छिदु—
र्गङ्गामध्यविराजिपट्टसवनं त्वल्लावदीनं जगुः ॥३९॥
तत्पट्टे खलु दुर्लभादिकपरः सेनस्ततः श्रीधरः
सेनाकुञ्जरनाथनाथसदसि प्रख्यातशास्त्रेशितुः ।
जेता यो यमदण्डसंज्ञविबुधैर्वक्तुं ततः श्रीधरः
श्रीकान्तीनगरे तु दर्शनसमान् मासान् तु बौद्धैः सह ॥४०॥
द्वाविंशद्भटभञ्जनाः खलु ततः श्रीषेणसंज्ञाः क्रमात्
लक्ष्मीसेनबुधा यमादिसहितास्त्रैविद्यसोमादिमाः ।
सेनाः स्तम्भकतीर्थपूर्वकशिवस्वाम्याख्यवादीरिणो
मान्यो महमुदपातसाहनृपतेः शिष्यास्ततः संबुधाः ॥४१॥

श्रीमत् श्रीधृतवीरसेनविबुधा वादीभपञ्चानना
भल्लैपुररसहरम्यनगराद् मशैस्यसत्र पुरम् ।
गत्वा मल्लमुद्रपातसाहनृपते श्रीमन्समस्यां गुरु—
प्रापुर्यं प्रतिदेशकेषु मतत जैनीयक मुक्तवान् ॥४२॥
श्रीधरसेना किल देवसेना श्रीदेवभद्रा खलु तत्र पट्टे ।
त्रयो बभूवु सद्गणयंवान्तोणजेन्द्रकुम्भस्थमृगानसिक्ता ॥४३॥
सिद्धान्तरत्नस्याखिलपुरिघुन्दसुसार्थभौमा किल सोमसेनका ।
त्रैविद्यपूर्वा सकलार्हतश्रुतप्रज्ञानरेन्द्रै किल वन्दितांघ्रय ॥४४॥
श्रीमत्सूरिगुणोकपालनिपुणो भव्याम्बुजाह्लादकृत्
मिथ्यावादिमहेभभेदनपवि सच्छास्त्रचूरकाम् ।
नारान्द्रेकसुसोमसेनयतिराट्पट्टाब्धयाब्धौ रवि
रूयात श्रीगुणभद्रसूरिगुरुराट् नन्याचिर भूतले ॥४५॥
तेषां पट्टे गणी जातो श्रुतवीरो गुणाकर ।
चित्रजनसरोजानां मुदे रविरिवानिशम् ॥४६॥
तत्पट्टे गुणसेनसूरिविदितो विद्वान् समार्वदित
पश्चात्तच्छ्रीगुणभद्रदेवमुनिपो भव्याम्बुजाह्लादक ।
तर्कव्याकरणादिशास्त्रजलधि श्रीलक्ष्मीसेनस्तत
श्रीपादि बुसमानकीर्तिरमल भट्टारकाधीश्वर ॥४७॥

॥ इति पट्टावलि ॥

INDEX OF PROPER NAMES.

NEW JAIN IMAGES IN THE MATHURA MUSEUM.

By

Syt K D. Bajpai, M A., Curator,
Mathura Museum.

Recently some more Jaina images, bas-reliefs and architectural pieces have been acquired from the Mathura district and added to the rich and varied collection of the local Museum. The following among them are more important and deserve mention—

1. *Statue of Mahāvīra* (Reg. No 3150)—The Lord is seated in Dhyānamudrā on a throne supported by two lions which are carved in high relief. Over his head is a triple umbrella. On either side are standing *devas* and *chauri*-bearers. The image belongs to the Medieval period.

2. *Base of Pārśvanāth Image* (No. 3176; 1′-8″ X 11″ X 10″) Only the pedestal adorned with lions remains. There is an inscription on the lower rim which reads as follows : —

l. 1 श्री पारसनाथः ॥ लालिकम्र
l. 2 य· ।

The script is of 11th cent. A D

3. *Slab* (No. 3178; ht 8″) bearing eight Tirthaṅkaras in two rows, each containing four. Post Gupta period

4. *Base of an image of Vardhamāna* (No. 3208; 1′-10′X1′-2′X1½″)—There is a beautifully carved big wheel in the centre placed on a pilaster On the right of the *chakra* are standing two male devotees with garlands while on its left side are standing three females with folded hands. On the upper rim of the base there is an inscription of two lines in the characters of the Kushāṇa period. It reads as follows :—

l. 1 सं ८२ हे मासे १ दिवसे १० एत,........
l. 2 [भगि] निये जयदेवीये भगवतो वर्धमा [न] ....

Unfortunately the inscription is incomplete as a portion of it has been effaced. It is dated in the Śaka year 82, which means that the image was installed in 160 A D The donor was a lady named Jayadevī. It is significant to note that the religious activities of

women at Mathurā superseded those of male devotes From the large number of Jaina inscriptions discovered at Mathura we get a long list of ladies who made munificent donations for the Jaina Establishment

5 *Pratimāsarvatobhadrikā* (No 3209, ht 3 6)—On each of the four sides is standing a Tīrthankara figure Of the four, Ādinātha and Pārśvanātha can easily be recognised by the locks of hair and serpent hoods respectively The heads of other two images are badly damaged The sculpture is remarkable both for its artistic beauty and its large size which (size) is rarely found in the Sarvato bhadrikā images of Mathurā The present image belongs to the Kushāna period

6 *Colossal Jaina head* (No 3212)—The hair have been artis tically arranged in short spiral curls Kushāna period

7 *Fragmentary Tīrthankara image* (No 3219, 1'-3 X 1)—Only the right leg of the image remains On the pedestal, which is supported by two lions, are carved two male devotees each holding a piece of cloth in the left hand Kushāna period

8 *Railing pillar* (No 3233 ht 2 2)—The pillar is beautifully carved with full blown lotuses on two adjacent sides The remaining two sides contain mortices for the reception of cross bars This shows that the pillar stood in one of the corners of the railing It was discovered by me in the last winter from Kankali Tīlā, the greates stronghold of Jainism at Mathura The place where it was found clearly marks the adjoining point of two brick walls near which the pillar might have originally stood The pillar is octagonal in shape and belongs to the Sunga period (2nd, 1st cent B C) The site requires thorough excavation, which may yield important results

9 *Fragmentary Railing pillar* (No 3234 ht 1 9)—This was found along with the pillar No 3233 It is decorated with lotuses on the front and back sides The remaining two sides contain mortices for cross bars Śuṅga period

10 *Cross-Bar* (No 3241, 7½ X 5) showing on the obverse a standing rhino to left and on the reverse a lotus Śunga period

THE DATE OF ŚRĪDHARĀCĀRYA.

By

Syt. S. Śrīkaṇṭha Śāstrī M A.

In the Bhāskara[1] (Bhāga XIV. Kirana I) Paṇḍit Nemicandra Jain Śāstrī has attempted to prove that Śrīdharācārya, the author of Jātaka Tilaka in Kannada has also written Līlāvatī and in Sanskṛt Jyotirjñāna Vidhi or Śrīkkarana besides Ganita Sāra or Triṁśatikā (edited by Sudhakar Dvivedi), and that Śrīdharācārya is earlier than Mahāvīrācārya, the guru of Amoghavarṣa Nṛpatunga. It is said that in the Jyotirjñāna Vidhi Ś. 720 I is taken as the Karaṇa year and hence Śrīdharācārya must be assigned to 799 A. D; a little before Mahāvīra and Nrpatunga. It is further asserted this Śrīdharācārya is identical with the one mentioned in the *guru paramparā* given in Vardhamānaś Daśabhaktyādi Mahāśāstra and later Śrīdhara called a paṇḍita by Vardhamāna is the author of Jaya Kumāra Carita the date given in the History of Kannada Literature[2] is dismissed as merely conjectural and based on language only.

I have shown from the evidence of the manuscripts catalogued in Madras that the date of Śrīdharācārya's Jātaka Tilaka as given by Mr. Narasimhācārya is approximately correct[3]. I have given the full verse mentioning the date which is as follows:

Dharaṇi giri nidhi (971) *Śakābdam Virōdhi valsarada Mārgaśirada Śuklētara caturthi divasada guru Pusya dolesedudu ilege Jātakatilakaṃ*

"The Jātaka Tilaka was manifested in the world in the Śaka year counted by the earth (1), mountains (7), and treasures (9), Virodhi Mārgaśira, Śuklētara, (Bahula), caturthi, Thursday, Puṣya (Nakṣatra). The next verse says that the earth was being ruled by Āhavamalla The date given corresponds to 16th November, 1049 A.D. (Thursday) falling in the reign of Sonēśvara I (Āhavamalla) Thus there is absolutely no room to doubt the date of the Jātaka Tilaka and this Śrīdharācārya. In the introductory verses Śrīdhara implies

1. *Jaina Antiquary* XIII. 1.
2. *Karṇāṭaka Kavi Carite* I. p. 75.
3. *Sources of Ka ka History* I. p. 173.

Padmanandi	...	(Padmanandi mentioned in Māgha nandi works.)
Śrīdharācārya	...	Śrīdharācarya; [Devanandi Traividya, Vāsupujya Siddhanti, Śubhacandra, Abhayanandi Arhanandi]
Deva candra	...	Deva candra
Kanaka candra	...	Kanka candra Aṣṭopavāsi
Nayakīrti	...	Nayakīrti (Cāndrā gaṇa).
Ravicandra	...	Ravicandra māsopavāsi Hariyanandi Siddhānti.
Śrutakīrti	...	Śrutakīrti Traividya.
Vīra nandi	...	Vīra nandi
Jina candra	...	Gaṇḍa Vimukta Nemicandra
Bhattāraka Vardhamēna	...	Māna Munīndra.
Śrīdhara	...	Śrīdharā cārya
Vāsupūjya	...	Vāsupūjya Traividya.
Udayacandra	...	Udayecandra
Kumuda candra	...	Kumuda candra.
Māghanandi	...	Māghanandi (at Dāra Sāmudra, con. of Narasimha III 1270 A D.)
Vardhamāna		
Mānikyanandi		
Guṇakīrti		
Guna candra		
Abhayanandi		
Sakala candra		
Gaṇḍa vimukta		
Tribhuvāna candra		
Candrakīrti		
Śrutakīrti		
Vardhamāna		
Vāsupūjya Traividya		
Kumuda candra		
Bhuvana candra		

The date of Vardhamāna's work is given as Ś. 146 (? Khara) 4, Plava, Simha Śrāmāna, Kṛṣṇa (pakṣa) Aṣṭamī, Rohiṇī nakśatra, Prabhākara Śiva (Sunday ?)[1], most probably corresponding to 14th August. 1541 A.D. Sunday, Kṛṣnjänmāṣṭami. The date of the Kelagere inscription is uncertain but falls in the reign of Hoysaḷa Narasimha III (1278-1290 A.D.). Māghanandi of Balātkāra gaṇa wrote

1. *Praśasti Samgraha. Jaina Antiquary.* IV. 4. p. 122.

A comparison of the three lists shows that the parampara is substantially correct though one or two names have been added, displaced or omitted Mr. Narasimhācārya placed Māghaṇandi in about 1253 A. D. Narasimha ruled from about 1253 to 1291 and therefore the Kelagere inscription and Māghaṇandi may be ascribed to about 1270 A.D. Since Vardhamāna's disciple Padmanandi was the sadharma of the first Śrīdharācārya and as Vardhamāna was worshipped by Hoysaḷa (according to Daśabhaktyādi Mahāśāstra). Śrīdharācārya the author of Jyotirjñāna vidhi (if he is identical with the above) cannot be earlier than the Hoysaḷas who rose to power only from about 1000 A. D under the Cālukyas. The Kannaḍa author of Jātaka Tilaka was as pointed out above the contemporary of Somēśvara I under whom Vinayāditya II and his son were subordinates in Hoysaḷa territory. But there is no proof that the monk of Balātkāra gaṇa is the same as the Kannaḍa author.

Śrīdhara was also the name of the astronomer who wrote Laghu Khecara Siddhi in 1227 A. D.

Regarding the Karaṇa year Ś. 720-721 given in Jyōtirjñāna vidhi it is unsafe to determine the date by this alone Lalla took Ś. 420 as his Karaṇa year (498 A D.) but Dikṣit says that he was born in Ś. 560 (638 A.D). Śrīdhara probably took the Karaṇa year from some previous Jaina author of the ninth century Also there is no proof that Mahāvirācārya borrowed from Śrīdhara. It might have been the reverse or that both took this general mathematical rule from older works.

Śrīdharācārya's Jyotirjñāna vidhi was composed in the latitude 16°, 38′ i.e. some where midway between Belgaum and Hyderabad (and not in the Madras Presidency) probably near Kalyāṇi, the capital of the Cālukya empire[1]. Śrīdhara of Kannaḍa Jātaka Tilaka lived in the empire of Somesvara I of Kalyāṇi at Narigunda. In the Jātaka Tilaka Śridharācārya says that he follows Āryabhaṭa. The first Āryabhaṭa lived from 476 A. D. to perhaps the middle of the

1, If Narigunda the native place of Śrīdharācārya is the modern Navalgunda in the Rōṇ taluk of Dharwar district its latitude is 15° 40′ (approximately) but the latitude given a Jotirjñāna -vidhi is 16° 38′ near Bāgevādi and Kalyāṇi the Capital of Cālukyas is in the 18° latitude therefore also the two Śrīdharas belonged to two distinct localities.

sixth century Another Aryabhaṭa (different from the above) is mentioned by Brama Gupta (628 A D) The third Āryabhaṭa of Mahāsiddhānta is far later than Brahmagupta The Jītaka Tilaka was composed in 1049 A D when at the same time more or less Śrīpati wrote Siddhānta Sēkhara in Ś 962 (1040 A D) and Bhoja Raja wrote Rājamṛgāmka in S 964 (1042 A D) Srīdhara of Jātaka Tilaka was a native of Narigunda in Beḷuvola nādu, and belonged to a Jaina Brāhmaṇa family His work follows the plan of the Bṛhajjātaka of Varāhamihira and he claims that his is the first Kannaḍa work of the type

Thus it is impossible to take back the date of Srīdharācārya of the Jātaka Tilaka to the 9th century Further there is no proof that he wrote Lilāvati in Kannaḍa (even earlier than Bhāskarācārya's Lilāvati 1150 A D and Rājāditya's Kannaḍa Lilāvati) The identity of the author of Ganita sāra or Trimśatika with the author of Jyotirjñāna Vidhi (or Śrīkaraṇa) is to be yet proved Since the Kannada poet Śrīdharācārya refers only to one more work of his Candraprabha Carita and not to any further astronomical work like Jyotirjñāna vidhi the two are different. The Kannada author does not refer to any guru and therefore was not the monk of Balātkāra gana Both authors (of Jātaka Tilaka and Jyotirjñāna vidhi) were natives of Karnāṭaka but not identical If the Karaṇa year can be relied upon the Samskrt author must be assigned to the 9th century (but the work is of very late appearance) and the Kannaḍa author to the 11th century

---

The auther of Ganitsar Sangrah is also the writer of Jyotirjyan Vidhi or Shrikarna because the dealings of the subject in both the works are of the same style Therefore it is possible that Shridharacarya the author of Jataka tilak might be some one different Param Dinman Shridhar as given in Jyotirjyanvidhi is possible to belong to the south only So the Jainacharyas the authors of Ganitsar belonged to the South India and it is proper to put their date as the last span of the 8th century A D

N C Shastri

HEROES OF THE JAIN LEGENDS.

By

Dr. Harisatya Bhattacharya, M A, B.L, Ph. D.

The same supreme veneration for a perfect human being which characterises the Jaina religion is also manifest in it a account of the Nārāyaña and the Prati-nārāyaña. The orthodox literature of the Brāhmañic school discribe the Nārāyaña as the Supreme Being. The Brahmavaivartu-Purāña says:—'The wise know that by the term, *Nāra* is understood salvation, in which the emancipated Being becomes of the similar form with the Supreme Lord. That God is Nārāyaña, who is the way to it. Again, *Nāra* may mean a sinner and *Ayaña*, his way. The God Nārāyaña is so called because He is the Way (to salvation) for the sinner. *Nāra* may also mean the blessed Deliverence and Ayaña, knowledge. He is the Nārāyaña from Whom come the two." The Vishñu-Purāña again holds: "By Nāra is means *Ap* (water); it may also mean Sons of Man. Nārāyaña is so called, because he dwelt in them" It is urged that "*Nara* is the twenty-fifth principle over and above the Prakriti. *Nāra* are the objects which belong to Nara. Nārāyaña is so called because He is the abode of all these.' It is thus abundantly clear that Nārāyaña, according to the Vēdic literature is the super-sensuous Supreme God or Principle, governing the phenomena of the world

According to the Jainas, however, Nārāyaña is a mighty human king who rules over three parts of the earth He dies while ruling over his kingdom i.e., without being initiated into the order of the monks Consequently, he is not finally emancipated on his death. He is re-born into this world and is to attain salvation ultimately. Nine such Nārāyañas are mentioned in the Jaina Purāñas, of whom the accounts of Lakshmaña and Krishña will be of interest to students of comparative religion, because they are glorified in the Vēdic Purāñas also.

Nārāyaña, according to Jainism, is thus a human being and according to the Brāhmiñic school, the Supreme divine principle. He is again the deliverer of the sinning mankind, according to the Vēdic school, The words, *Nāra* and *Nārayaña*, may both derivatively mean

"Son of Man" If we combine the views of the Jaina and the Brāhmiṇic schools,—we may arrive at a curious idea of the Nārāyaṇa being identified with the Jesus of the Christians. 1 The sacred scripture of the Christians call Jesus 'Son of Man" According to the Jainas, Nārāyaṇa is a man The word Nārāyaṇa may also derivatively have the exact significance, "Son of Man" Indeed the Brāhmiṇic Purāṇas say that "in some Manvantara, Nārāyaṇa became the son of Nara, a human sage' 2 According to the Christians, Jesus is nevertheless divine, this is also the Brāhmiṇic conception of the Nārāyaṇa. 3 Lastly Jesus the divine, the "Son of Man', is the deliverer of the sinners What we have quoted from the Brahma-vaivarta Purāṇa goes also to show that derivatively, the word Nārāyaṇa means exactly the same thing He, the Supreme Being, according to the Vedic school, becomes 'flesh and blood", lives among men and shows the way to or effects their liberation The fundamental theory of the Christian religion,—its Son of Man dogma i e, its doctrine of God appearing as Man and working for the deliverance of sinners and sufferers, may thus be said to have been implied in the Nārāyaṇa doctrine in ancient India

Prati Nārāyaṇas, again, are persons who are antagonists of Nārāyaṇas The Prati Nārāyaṇas are predestined to be killed by Chakra of the Nārāyaṇas, who, on their death rule over the three parts of the earth, owned by the Prati Nārāyaṇas Prati Nārāyaṇas, on their death, go to hells and on the termination of their lives there, are born and re-born in this world till at last they attain salvation Nine Prati Nārāyaṇas are described in the Jaina *Purāṇas* In the list of the Jaina Prati Nārāyaṇas, we find the names of some familiar demons the accounts of whose deeds or misdeeds fill the pages of the sacred books of the Brāhmaṇas We come across, for instance, the names of Asva-griba and Madhu Kaitabha who were killed by Vishṇu Nārāyaṇa according to the Vedic Purāṇas of Tāraka who was killed by the mighty Kārtikeya the general of the gods and of Niśumbha who was killed by the goddess, Chaṇḍikā We find also the mention of Bali, who is said to have been humbled by Vishṇu in his incarnation as the Vāmana or the man of short stature. But although it is remarkable that both the Vedic and the Jaina sacred literature agree in describing the above mentioned mythic heroes as

evil-doers, we are surprised to find the name of Prahlāda mentioned in the list of the Jaina Prati-Nārāyaṅas. Here the Vēdic and the Jaina legends seem definitely and openly to be at the parting of ways. For, Prahlāda of the Vēdic Purāṅas is the ideal servant of Nārāyaṅa,—all-submissive and prayerful,—whereas, in the Jaina Purāṅas, he is a Prati-Nārāyaṅa or the enemy of the Nārāyaṅa. More important, however, of the Jaina Prati-Nārāyaṅas are Rāvaṅa and Jarāsandha,—the accounts of whose misdeeds and consequent annihilations form so great a part of the Vēdic epics, the Rāmāyana and the Mahābhārata.

Balabhadras in the Jaina Purānas are the elder step-brothers of the Nārāyanas and are said to be attached fast to them. Unlike the Nārāyanas, they enter the order of the Jaina monks which they do on the death of the Nārāyanas and upon their deaths they either attain salvation or at least go to the high heavens. Of the nine Balabhadras, glorified in the Jaina literature, Padma, otherwise known as Rāma-chandra and Bala-deva are the most important, as they are notable persons in the Vēdic Epics also.

From the short accounts of the Nārāyaṅas, the Prati-Narāyaṅas and the Bala-bhadras, which we have given above, one may guess that there are Jaina versions of the stories of the Rāmāyaṅa and the Mahābhārata We shall presently give the barest outline of the Jaina accounts of Rāma vrs Rāvana and Krishna vrs Jarāsandha. We may, however, just make a passing reference to a point which is of some importance to a student of comparative mythology. The sacred books of the Vēdic school regard Rāma chandra as the Nārāyaṅa and Lakshmaṅa as the incarnation of Ananta, whereas according to the Jainas, Lakshmaṅa is the Nārāyaṅa. The Vēdic Purāṅas describe Krishṅa as the Nārāyaṅa and his elder brother Bala-dēva or Bala-bhadra as the incarnation of Ananta. Thus, so far as the natures of Krishna and his brother are concerned, the two religions may be said to agree,—although stray passages may be met with in some of the Vēdic Purāṅas, stating that Bala-bhadra, the step-brother of Krishna is the incarnation of Nārāyaṅa, Jaya-dēva, for instance, in his celebrated Hymn to the Ten Incarnations, invokes Bala-deva as the Kēśava (Nārāyana). It would thus appear that the

Jaina inversion of the order of the Narayana and his brother in the case of Rama and Lakshmana is parallel to the similar inversion of the same order in the case of Krishna and Bala dēva, made by some of the devotees of the orthodox Vēdic school

I

The story of the Rāmāyaṅa, as stated in the Jaina Purāṅas, is substantially similar to the account of Vālmikī We are told that King Dasārath had four sons Rāma Lakshmana, Bharata and Śatrughna, who were the most accomplished of the princes of the day Rāma broke the mighty bow of Janak and was given Sītā in marriage to him Daśaratha wanted to make Rāma the king but was compelled by his promise, previously made to Kēkayī, to banish him and make Bharata king in his stead Rāma went to the forest with Sītā and Lakshmaṅa. Sūrpanakhā (called Chandra nakhā in the Jaina Purāṅa) became enamoured of the brothers but on her advances being slighted, there was the fight with Khara Dushaṅa King Rāvaṅa of Lanka, who was the brother of Chandra-nakhā came to the forest The brother who was protecting Sītā was deceived and made to believe that his brother was in trouble He ran to his rescue leaving Sītā alone and Rāvaṅa stole her away in his air chariot, called the Pushpaka Rāvana took Sītā to Lankā and put her under the Aśoka tree He tried his best to induce Sītā to surrender her fair body to his lust but Sītā sternly refused Rāvaṅa was angry but was prevented from forcibly violating her by a previous imprecation of a Saint Sugrīva, the king of Kishkindhā, was restored to his kingdom and to his wife by the brothers For a time Sugrīva was too much engrossed in his enjoyments to think of any duty to the brothers. He was, however, brought to his senses by the firy Lakshmaṅa and then, according to his direction Hanuman went to Lankā He met Sīta who gave him her head jewel to be delivered to Rāma. Rāvana ordered Hanumān to be captured Rāvana's men were defeated but at last Indrajit took him to Rāvana, bound in Nāga pāśa or serpent noose He destroyed many fine buildings in Lankā and went back to Rāma to whom he delivered the pleasant news about Sītā. Bibhīshana, the brother of Rāvana tried to dissuade him from his evil path, where upon Rāvana was

about to kill him. Bibhishana joined Rāma with his army. In the terrible fight that ensued between Rāma and Rāvana, the latter hurled Sakti upon Lakshmana which made him unconscious. At last Rāvana was killed and Rāma made Bikhishana king of Lankā. The brothers with Sīta came back to Ayōdhyā. Rāma became the king and ruled his kingdom well and peacefully for many years. There was, however, the ugly rumour about Sītā in the kingdom on account of her stay in Rāvana's city, whereupon Rāma thought it fit to banish Sitā to please his subjects. Sita gave birth to two boys. The two princes were very powerful and defeated Rāma and Lakshmana in a battle. It was represented to Rāma that Sītā was a chaste lady and should be taken back. But as fate would have it Sitā could not be joined with Rāma. Lastly, in both the versions we find that Rāma wanted Sita to face the ordeal of fire. Sitā came out unsceathed, her purity fully vindicated.

It is impossible to note here, all the points in which the Jaina version of the story of Rāmayaña differs from Vālmikī's Some of them only may be noticed here First of all, the episode about Daśaratha and Janaka wandering from countries to countries *in cognito* may be referred to. It is said that king Rāvaña of Lankā was told by a wise astrologer that his downfall would be brought about by the son of Daśaratha and daughter of Janaka Rāvaña was naturally frightened, where upon his brother Bibhishaña cheerd him up by promising that he would kill the two kings before they would beget any children. The sage, Nārada came to learn this and he gave timely warnings to Daśaratha and Janaka. These two kings thereupon left their kingdom, unnoticed by all, it was given out in their respective cities that they were too ill to appear before the public and to guard against all the possibilities of the real state of affairs being foundout, two life-like images of the two kings were kept laid on royal beds in the palaces. Bibhishaña sent assassins who cut off the heads of these images. These heads, presented before Rāvaña, removed all his fears.

Another episode in the Jaina version of the Rama-story is the beautiful accout of Bha-mandala. King Janaka is said to have had twin children, Sita and a son by his queen, Bidēha. Now, a superhuman being had a grudge against the infant son of king Janak in

his previous birth To "feed fat this ancient grudge", this superhuman being took away the infant prince as soon as he was born but on his way, he was suddenly apprised of the wickedness of his act and he left the infant with Chandra gati, king of Ratha nupura Chandra-gati and his queen liked the beautiful child very much and began to rear him up as their own son They called him Bhā mandala

Bhā mandala when he came of age, heard of the bewitching looks of Sita He did not know that Sita was his sister and so he wanted to marry her His father asked Janaka to give his daughter in marriage to Bhā-mandala but Janaka had already settled to marry Sitā to Rama, Matters came to such a pass that even when Chandragati withdraw his objections to the marriage of Sitā with Rama, Bhā-mandala came out to fight with Rama When, however, he reached Bidarbha, he suddenly remembered that Sita was his sister So, he gave up his intention to fight and gladly joined the marriage celebration of Rāma with Sitā.

In the Jaina account, we come across many stories about Lakshmaṇa While in forests with Rama and Sita he defeated the king Singhōdara and gave away to Bajrakarana, a pious worshipper of the Jina half of the kingdom of Sihghōdara He rescued Balyakhilya, king of Nalakubra from the non-Aryan Bhilas His daughter Kalyanamāla became enamoured of Lakshmana He rescued also Banamālā daughter of the king Prithvidhara, who was about to commit suicide, as her father had arranged her marriage with a prince other than Lakshmana whom she loved secretly He is said to have gone to various cities and married many princesses

In the Jaina Purānas Hanumān is otherwise called Śri śaila and he is looked upon as a Kāma diva i e. of a higher order of morals and of exceptionally strong frame

Besides the above additions we meet with various other alterations of the Rāma story in the Jaina Purānas For example, regarding the promise of Daśarath to give boons to *Kaikēyi in future*, the Jaina story is slightly different King Daśarath did not promise the boons because, as the Rāmāyana of the Vedic school says, Kaikēyi nursed him when he got wounded in a terrible fight against

the demons. The Jainas say, on the contrary, that while wandering from countries to countries *in cognilo* to delude Rāvana and his men, Daśaratha reached the kingdom of Kaikēyī's father, where he heard that the beautiful princess was to choose her husband from among the renowned princes of the day assembled there for the purpose. Daśaratha attended the assembly and Kaikēyī's choice fell upon him. Thereupon the disappointed princes attacked Daśarath in rage. Daśaratha, however, was quite a match for them. Princess Kaikēyī too was a bold and skilful lady. She acted as the charioteer and led the chariot of Daśaratha dexterously in the battle field,—just as Subhadrā (described in the Vēdic Purānas) did on a similar occasion, when her tuitor Arjuna was taking her away. To Kaikēyī's skill in chariot-driving, Daśaratha owed his victory that day to a great extent and in fond gratitude, he offered to fulfil any boon that she might ask of him. Kaikēyī, however, said that she would let him know her wish on a suitable future occasion. Daśaratha promised to fulfil her prayer whenever she would make it. She wanted Rama's exile and Baratha's installation to the throne of Ayōdhya as the boon, when Daśaratha was about to make Rāma king and the poor king has to consent to it,

Then, as regards the marriage of Rāma with Sīta, the Jaina account is widely different from Valmikī's. It is not the sage Visvāmitra who took Rāma to the hermitage for the purpose of killing Tārakā. We do not also find the story of Rāma's breaking the mighty bow of the Lord Śiva to win the hands of Sītā The Jaina account says that Antarangala, the half-civilised Mlechehhū (non-Aryan) king of Mayuramāta attacked the kingdom of Janaka with a great army. Janaka was frightened and sought the aid of his friend, king Daśaratha, who sent his sons Rama and Lakshmana to drive away the non Aryan hordes. The two brothers signally defeated Antarangala who fled away King Janaka out of gratitude proposed to marry his daughter Sītā to Rāma and Daśaratha agreed to it. The sage Nārada, however, heard of the far-famed beauty of Sītā and wanted to see her. He entered the room where Sītā was looking at her face in a mirror. On the mirror, the ugly face of the sage covered with long hairs and beards was suddenly reflected, which frightened the princess so much that she began to run away

with a scream Narada was following her when he was stopped by a palace guard. The sage felt insulted and resolved to create troubles for Sitā He went to Bhā mandala who did not know that Sitā was really his sister and showed to him a portrait of the princess Bhā mandala at once got enamoured of her and became eager for marrying her King Chandra gati his father came to know this and he had an interview with Janaka Chandragati requested Janaka to give his daughter in marriage to Bhā mandala but Janaka openly praised the powers of Rāma and expressed his decision already made, to marry Sitā to Rāma There-upon, Chandra gati said that he had with him two mighty bows, known as Bajrā varta and Sāgarāvarta and that they should be raised and used by Rāma and Lakshmana, before he would acknowledge the power of the two princes and allow Sitā to be married to Rāma Janaka had the two bows brought to Mithilā and invited Rāma and Lakshmana along with the other princes of the day A '*swaymbara*' was arranged and Janaka proclaimed that the prince who would be able to raise the bows would win the hands of Sitā None of the princes dared to approach any of the bows, for, they were found to emit horrid flames It was Rāma who lifted up Bajrāvarta quite easily, so did Lakshmana Sāgarāvarta Sitā threw the bridal garland around the neck of Rāma

About the role of Jatāyu bird as a protector of the exiled princes and Sitā, we come across a different story in the Jaina version It is said that while in the Dandaka forest, Rāma was one day waiting for a hungry sage who might oblige him by breaking his fast with the meals to be offered to him As luck would have it, two such sages, Gupti and Sugupti who had been fasting for a whole month, were passing that way and they, finding Rāma to be a really good and honest man, gladly ate the meals offered by him A vulture was sitting on a tree near by, suddenly, however, he came to realise that it was a rare opportunity to have such great sage and he fell down at their feet respectfully At once the wings of the bird began to glitter as if they were made of gold The sages, after finishing their meals took pity on the bird and explained to him the rules of a morally disposed house-holder's life From that day, the bird began to had a strictly abstemious life. The sages told him to live near

Rāma and Lakshmana. The bird agreed and was thereafter called Jatāyu by Rāma.

The incidents connected with the stealing of Sitā by Rāvana are slightly different from those, stated in Balmiki's Ramayana. According to the Jaina account, Lakshmana one day percieved fragrant smell coming from some unknown quarter. On enquiry, he discovered that it was coming from a beautiful sword, Sūrya-hasya (Sun's laugh). To test the sharpness of the sword, Lakshmana struck it on a cluster of bamboos near by. The bamboo-clump was cut and lo! one Śambooka who was within it, practising penances for the purpose of getting the sword was killed outright. This Śambooka was the son of Khara-Dushna who had married Chandránakhā, sister of king Rāvana of Lankā. Chandra-nakhā used to come every day to her penancing son and feed him At the gruesome sight, her grief was boundless and she began to search for her son's slayers. But when she saw Rāma and Lakshmana, she became enamoured of them. She represented herself before them as a virgin and requested them to marry her. The brothers of course scoffed at her offer. In rage, she went to her husband and told him all about her son's cruel murder. Khara-Dushana went out to fight and sent information to king Rāvana to come and help him.

Thus in the Jaina account, Khara and Dushana are said to be one man and he is the husband of Rāvana's sister. The story of Śambooka is curious. Meanwhile in Valmiki's Rāmayana, there is no such account It is of course well known that there is a story about one Śūdra sage Śambooka's practising severest penances, who was killed by Rāma, after he became king of Ayōdhya, on the ground that such penances were forbidden to a Śūdra. The present day writers look upon the slaughter of Śambooka as a great blot on Rama's character. It need scarcely be said that the Jaina account of the killing of Śambooka exonerates Rāma fully from the guilt,—not only because it was not he but Lakshmana who killed Śambooka but also because the slaying was purely accidental.

As we have indicated above, according to the Jaina account, it was not Sūrpa-nakhā who induced her brother to take away Sitā. Rāvana was coming to aid Khara-Dushana, and it is said that he saw Sitā in the cottage from his air-chariot. He was struck at her beauty

and decided to steal her. According to the Jainas, it was Lakshmana who went to fight with Khara-Dushana. Rāma was at home. Rāvana imitated the voice of Lakshmana from the direction of the battle-field and Rāma, thinking that his brother was in danger, hastened to help him. Rāvana took away Sita in the meanwhile,—thus, without the help of a Mārīcha, as according to Vālmiki ?

Virādha was a monster, killed by the brothers, Rāma and Lakshmana, according to Valmiki. In the Jaina account, we come across one Viradhita, ruler of the kingdom of Pātāla-Lamkā, who helped Lakshmana in his fight with Khara-Dushana and who took the broken-hearted brothers to his city after the abduction of Sitā. We pass by the story.

On coming to the next great point in the Rama-story viz., the rescue of Sita,—several remarkable differences between Valmiki's and Jaina account arrest our attention. The first of these is that the Vānaras of Kishkindhyā were according to the Jainas, of the same race with and fast friends of the people of Lankā In forest, king Sugriva is described as a relative of Rāvana and the high-souled Hanuman, as the son-in-law of Khara-Dushana. Rāvana and the Rakshasas are not man-eating monsters but are followers of the Jaina faith. Yet, it was with the help of these Vānaras that Rāma recovered Sītā.

A somewhat different story is told in the Jaina Purāna about Sugrīva's plight Bālī was, no doubt, his brother but he was a pious Jaina, practising penances near by Kailāsa. It was Bālī who drove away Sugrīva and appropriated his wife. The Jaina Purāna says that one Sāhasa-gati who with the help of black art assumed the likeness of Sugrīva and approached Sugrīva's wife, when Sugriva was away. Everyone in the palace took Sāhasa-gati as the real king,—so that when the real Sugrīva came, he was instantly repudiated. Sugrīva was now helped by the brothers, Rāma and Lakshmana, who killed Sāhasa-gati. Poor Sugrīva thus got back his kingdom and his wife. This Jaina account acquits Bālī, on the one hand, of the shameful charge of living with his brother's wife and Rāma, on the other, of the charge of improperly killing Bālī, who had done no harm to him.

In the Jaina Purānas, the Vānaras are represented as having at first been afraid of fighting with Rāvana, who, they said, was a mighty enemy. To expel their fear, Lakshmana, to their amazement, lifted up the huge rock, Kōti-Śita. This removed all their doubts,—especially because there had been an old prophecy that the lifter of the Kōti-Śita would be the killer of Rāvanā. It is needless to point out that the Jaina account of the lifting of Kōti-Śita by Lakshmana is a parallel to Valmikī's account of the piercing of the seven Palm-trees by Rāma and other such exploits.

In the Jaina Purānas, we are not told that a bridge had to be built for the passing of Rama's army. Bibhīshana, Rāvana's brother is admitted to have joined Rāma. His other brother, Kumbhakarna was taken captive. According to the Jaina account, Indrajit and Mēghanada were two different persons,—brothers, not sons of Rāvana. They also were taken captives. The story of Lakshana's being hurt with the Śakti-Śēla of Ravana finds a place in the Jaina account but the Jainas give a different account about Lakshmana's cure. Medicine had not to be brought from the mountain, Gandha-madana, as according to Vālmikī. The Jainas say that when Lakshmana was lying wounded and Rama was waiting, a man told them that there was a prince, named Drōna Mēgha, who was subject to Bharata, the king of Ayōdhya; and that the water from the body of Biśalya, daughter of Drōna-Mēgha, when she bathed, would cure the wounds of Lakshmana Upon this, Hanuman went atonce to Bharata who called Drōna-Mēgha His daughter came to the battlefield with Hanuman in a chariot. Her bathing water cured the wounds of Lakshmana and of other ailing people. This princess was afterwards married to Lakshmana

According to the Jainas, it was Lakshmana, not Rama, who killed Rāvana. Rāvana was the Prati, Narayana & had the unfailing Chakra with him. He hurled it towards Lakshmana but as the latter was the Narayana, the Chakra instead of hurting Lakshmana in any way came to Lakshmana's hand to be used by him. Lakshmana threw it towards Rāvana and he was killed instantaneously. This Jaina account of the killing of Rāvana with his own Chakra has a distant similarity to the story well-known to the followers of the Vēdic

school, that Rāvana was killed by a weapon, known as Mrityu-vāna (death-arrow), which had all along been with him and which, it had been so ordained, would kill him, when thrown by an enemy against him!

Upon the death of Rāvana, Bibhīshana was made the king of Lankā. According to the Jainas, Kumbhakarna, Indrajit and Mēghanada were not killed in the battle. They were let off after the war. They took to religious practices and attained salvation. Rāvana's wife, Mandōdarī, along with other ladies, entered the order of nuns.

Rāma returned to Ayōdhya with Lakshmana and Śita. Lakshmana was the Narayana according to the Jainas and so, he ought to have been made the king. But Lakshmana did not agree to be the king. Rama was accordingly installed to the throne. Bharata was a pious man and had long been disgusted with the ways of the world. He now entered the religious order. His mother, Kaikēyī also became an Āryika or nun. Madhu, king of Mathura, took to evil ways; he was killed and his kingdom was given to Śatrughna, Rama's youngest brother.

In the Jaina Purāna, there is almost the same story about the exile of Sīta,—with this difference that she was not taken to the hermitage of the sage, Vālmikī. She was left in the forest. Bajrajangha, king of Puindarika-pura, happened to be there as he had come to the forest to catch elephants. He took pity on Sīta and persuaded her to come to his city. Sīta gave birth to two sons who were called Ananga-lavana and Madanankuśa. It is said that when the two sons of Sīta came of age, they became very accomplished and powerful men. They were told by Narada all about the sad lot of their mother,—whereupon they decided to fight with Rāma inspite of Sīta's requests to the contrary. In the fight, Rāma and Lakshmana were defeated; even the Chakra of Lakshmana was abortive,—as it could never be effective against Lakshmana's relatives. At last, Narada intervened and a happy recognition and reconcilation was effected.

(To be continued.)

The Jaina Chronology.

By
Kamta Prasad Jain, D. L., M. R. A. S.

(*Continued from Vol. XIII, pp. 42-48*)

No.	Period & Date.	Events.
216	662 A. D.	Vik: Saṃ: 718. The Śvetāmbaras believe that conversion of the Śrīmālas to Jainism at Śrîpaṭṭaṇa (Bhînamāla) took place. Ref. *Tank's* Note book of a Kharatrayati.
217	674 A. D.	Vik: Saṃ: 730. Svāti-surî, a Śvetāmbara pontiff flourished. Ref. B. R., 1883-4, p. 323.
218	677 „	Vik: Saṃ 733. A chûrṇi on the 'Nandi-sûtra (Śvetāmbara) of Deva-Vāchaka was composed. Ref. JG., p. 42.
219	679 „	Vik: Saṃ: 735. Śilanandin succeeds Srî-bhûsaṇa as pontiff in the Nandi-Saṃgha: enthronement in Mālava.
220	680 or 450 A. D.	Śrî Pûjyapāda or Devanandin, the Digambara grammarian, author of the "Jainendra-Vyākaraṇaṃ" probably flourished about this date, being, as is conjectured, the gurû of Nirvadya-pandit (S 651) and the spiritual adviser of Vijayāditya, Western Chālukya (A. D. 680-696). According to Devasena (Vik: Saṃ: 990), Uajranandin, a pupil of Pûjyapāda, founded the Drāviḍa Saṃgha in

No.	Period & Date.	Events.
		Madura of the Deccan in the year 536 after the death of Vikrama. (Peterson: 525, his ms. 526). One Digambara Paṭṭāvalī mentions one Devanandin, as a pontiff in the Nandi-Saṃgha in the Vik:Saṃ 258 and a Jaina writer has identified him with Pūjyapāda; mentioned by Lakṣhmīdhara, pupil of Samantabhadra and by Jinasena in his "Harivaṃśa-purāṇa" (A.D. 783). Recently it has been held that Pujyapāda was the contemporary and preceptor of the Ganga King Durvanīti (478-513 A. D.) Refs. P.R., II, p. 67 ff., IA., XII. 19., Bombay Gaz. p. 373; Duff's Chronology of India, p. 57 and JM. XV No. 5 p. 8.
221	688 A D.	Vik: Saṃ 744. Inscriptions on two Jaina metal images discovered at Vasantgaḍha and now deposited in the Jaina temple at Piṃḍavāḍa (Sirohi State). Ref. *Ojha*, Sirohi, pp. 31-32.
222	693 „	Vik: Saṃ: 749. Śrīnandin succeeds Śīlachandra (Śīlanandin) as pontiff in the Nandi-Saṃgha at Mālawā. Ref. Jain: Hitaishi VI, 7-8, p. 29.
223	709 „	Vik: Saṃ: 765. Desabhûṣaṇa succeeds Śrīnandin as pontiff in the Nandisaṃgha enthronement inMalawā. [*Ibid.*]

No.	Period & Date	Events.
224	709 A. D.	Anantakirti succeeds Deśabhûṣaṇa as pontiff in the Nandisaṃgha at Mālawā. [*Ibid.*]
225	724 "	A. Vir. 1250. Dinnaginna: in his time, the 'Bhagavati-Sūtra' and the six angas in their original state were lost. Ref. Dīrsamagandīyā pagaraṇa, P. R., III Appendix p: 22.
226	729 "	Vik: Sam: 785. Dharmanandin succeeds Anantkirti as pontiff in the Nandisaṃgha at Mālavā. Ref. JSB. I, IV, p. 78 and JH., VI nos. 7-8, p. 29.
227	733 "	During the reign of the Chalukyan King Vijayāditya, one Vikkirāṇaka made a donation for the Saṃkha-Jinālaya at Purigere. Ref. JA., IX. 61-62.
228	726—788 A. D.	Śrīpuruṣa ascends the Ganga throne and rules as a great monarch. He was known as "Prajāpati" and awarded gifts to Jains and Brahmanas. Ref. Mysore and Coorg. p. 39 and The Gangas pp. 58-59.
229	733—746 "	On the request of Bāhubali Śreṣṭi, the Chālukyan King Vikrmāditya II restored the "Śankha-tirtha" Jinālaya and "Śveta" Jinālaya and made gifts to Vijayadeva-Panditāchārya, disciple of Śrī Rāmachandrāchārya and to

No.	Period & Date.	Events.
		Jayadeva Pandita, who was a grand disciple of Devendra Bhattāraka of Devagana. Ref. JSI, p 63.
229A	736 A. D.	Vik. Sam 793. Muni Kumāra Sena founded Kāsthāsamgha at Naditatagrama. —Darśanasara VI, 37-38.
230	744 "	Vik Saṃ 800. Bhadava Sudi 3 Sunday Hasta nakṣatre Bappa-bhatti-sūri, the religious adviser of Āma, King of Kanauj, born. Ref. Prabhavakacharitra, ch. XI. St. 740.
231	745—756 A. D.	Raṣṭrakūṭa monarch Dantidurga II flourished, in whose court Jaināchārya Akalankadeva gave a *discourse* on Jainism. —Ref. MJ. p 35.
232	746 A. D.	Vik: Saṃ: 802. Vanarāja Chāvaḍa founded Anahilavāḍa Pāṭaṇa, where he built the temple of 'Pañchāsara Pārśvanātha'. —Ref. Bombay Gazetteer, I. 2.—History of Gujarat, pp 151-154.
233	749 "	Śānta Rakṣita, a Buddist logician, in his work the "Tattva-Saṃgraha-Kārikā" reviews the Digambara Jaina doctrine of the soul. —Ref. Vidyābhuṣaṇa. Indian Logic, p 125.
234	750 "	The revival of the literary activity of the Jainas as founders of the Tamil literature proper may be assigned to about this period till about 1250 A. D. Almost all the great

No.	Period & Date.	Events.
		works of merit in the Tamil language, the Nalādiyāra, Kurral, Divākaram, Chintāmani, Nannul etc. belong to the Jaina age. Ref. Imp: Gazetteer of India, II pp 434-5
235	752 A. D.	Vik. Saṃ. 808 Vidyanandin succeeds Dharmanandin as pontiff in the Nandisaṁgha: enthronement in Malava Ref. A. D. 729 (No. 226)
236	760 „	Akalaṃka, 'the crest-jewel of all logicians' flourished, being, as it is supposed, a contemporary of Krishṇa I Rāṣṭrakūṭa (A.D 765): author of the 'Aṣṭāśati' (a commentary on Samantabhadra's Āptamīmānsā) Nyāya-Viniśchaya. Tattvārtha-Rājavārtika, Laghiyaṣṭraya, Nyāyachûlikā, Swarûpsambodhana, & Aklaṃkastotra. His father Laghuhabba was the ruling prince of some Draviḍa country. Ref. Nyāyakumudachandra, I, Intrd:
237	762 „	Śaka era 684. Viṣṇuvardhana III, the Eastern Chalukya King gave a gift of land to the Jaina pontiff Śrî Kalibhadrāchārya. Ref. JSI., p. 67
238	776 „	Śaka era 698. Plates of the Western Ganga King Śrîpuruṣa records a gift in favour of a Jaina temple at Srīpura. Ref. Guirionot. No. 121.
239	779 „	Vik: Saṃ 835 Udyotana-sûri, pupil of Nemichandra-Sûri composes the 'Kuvalaya-mala. Ref. JG. 222

No.	Period & Date.	Events.
240	781 A. D.	Vik: Saṃ: 838 Nāranga-devi wife of minister Ninaga flourished at Sripattaṇa Ref. B. R., 1883-4, p. 322.
241	783 "	Saka era 705. Jinasenāchārya composes the "Harivaṃśapurāṇa". Ref. B R., 1883-4, pp. 118-21 & JSB. I, i.
242	784 "	Vik: Saṃ: 840. Rāmachandra succeeds Vidyanandin, as pontiff in the Nandisaṃgha: enthronement at Malava. Ref. No. 226.
243	"	Vastsarāja Pratihāra of Kanauj flourished: built a Jaina temple at Osiā according to an inscription dated Vik: Saṃ: 1013. Ref Arch: Surv: of India, 1906-7, pp. 209-42
244	"	King Dhruva, the Rāṣṭrakūṭa after defeating Sivamāra II of the Gangawādi, appointed his son Kambayya to rule over that province. Kambayya was an ardent lover of Jainism. When his son Prince Sankaragaṇa approached him with the request that the Jaina temple of Talakāda, known as Srivasti', should be endowed, he promptly acceded to it and made a grant of a village namely Vadanaguppe for it; donating it to Vardhamāna-guru, who was a disciple of Elacharya of Kunda Kundi line. Ref. SJI., III, 3, pp. 79-80

No.	Period & Date.	Events.
245	784 A. D.	Govinda III. the Rāṣṭrakūṭa King endowed the Jaina temple of Mānyapura with the gift of the village Jalamangala. Ref. MJ., p. 88.
246	"	Muni Vimalachandra, a great Jaina disputant, flourished, who was the disciple of Muni Puṣpasena, the colleague of Akalaṃkadeva. Once be challenged all the disputants of other creeds by fixing a letter on the door of the royal place of King Śatrubhayankara who could be no other than Govind III. Ref. MJ. pp. 36-37.
247	797	Śaka era 719—Śrivijaya, a fendatory to the western Ganga Mārasiṃha founded a Jaina temple. Ref. Guiriconot, No 122.
248	800 circa	The author of the "Naiṣadhiya-Charta" mentions Jainism flourishing in the province of Sind in his time. (Sarga I, st. 71) Ref. JM. XVI, No. I, p. 24.

To be continued.

THE JAINA BHAGAVATĪ SŪTRA.

By

Dr. B. C. Law, M.A., B.T., Ph. D., D. Litt, Hon D. Litt (Allahabad University)

The fifth Jain *aṅga*, popularly known as the *Bhagavatī Sūtra* is entitled *Viāhapaṇṇatti*. It is also known as *Bhagavatī-viyāhapaṇṇatti*, *Bhagavatī*, *Vivāhapaṇṇatti* and *Paṇṇati* It is one of the most important and sacred texts of the Jaina *siddhānta*. Bhagavatī translated by 'holy' is just an honorific to signify its great importance as a work of exposition of the tenets and legends connected with the life of Mahāvīra. This text contains 41 sections, each called a *śataka* (century). Each section has 10 chapters, each of which is called an *uddesaka* or concise presentation of subject matters. It appears to have followed the *uddesa* and *niddesa* methods, the first implying the presentation of theses and the second, their elucidations. The 15th section which contains the legendary or semi-historical matters relating to the life of Mahāvīra and his relationship with some of his predecessors and contemporaries, is not unreasonably regarded as an independent text which was subsequently taken into the *Bhagavatī Sūtra*.

The expositions are introduced in the form of dialogues between Mahāvīra and his disciples including Gautama (Goyama Indabhūti). In some of the *uddesakas* they assume the form of catechisms of questions and answers. Abhayadevasūri wrote a commentary on this *sūtra*, which was known to him under two titles, *Viāhapaṇṇatti* (*Vyākhyāprajñapti*) and *Vivāhapannatti* (*Vivādha-prajñapti*), both of which he explains and justifies. Abhayadeva rightly points out that in some places the tenets are explained by Sudharman to Jambusvāmī. Each section begins with an introduction stating the time, the place, the occasion of the dialogue or discourse and mentioning the persons taking part in it. It may be pointed out that each section stands as a typical sūtra of the Jaina or Buddhist canon. Accordingly the component chapters generally appear without any such introduction. In the *Bhagavatī Sūtra* we have the following khandas or topical divisions: *sādhanā*, *cāritra*, *siddhānta*, *anyatīrthika*, *vijñāna*, *gaṇita*, *kutūhala*, *deva*, *nāraka* and *anyajīva*.

The standpoint of Jainism as presented in the *Bhagavatī* is in no way different from that in other texts of the Jaina *Āgama*. The fundamental principle of Jainism is *ahiṃsā* and the attainment of Nirvāṇa is the highest goal The practice of *tapas* or austerities marks and characterizes all the prescriptions, practices, and disciplines in Jainism. The plurality of souls is a point in Jain philosophy which is the same as in the Sāṅkhya system. The main point of difference between the two is that in Jainism the souls with consciousness as their fundamental attribute are vitally concerned with our actions, moral and immoral, virtuous and wicked, in which sense they are active principles; while in the Sāṅkhya system the *puruṣas* with consciousness as their fundamental attribute are passive principles, inasmuch as their nature is not affected by any and all of the activities relegated to *Prakṛiti* or evolvent In Jainism too the souls as substances do not undergo any change. They are liable to changes in circumstances. Both the systems necessitate a careful consideration of the cosmical, biological, embryological, physical, mental and moral positions of the *Jīvas* or living individuals of the world as a whole. These constitute the scientific background of the two systems of thought. One can say that these constitute also the scientific background of Vedānta and Buddhism, The Jainas developed a cosmographical gradation of beings more or less in agreement with those adopted in other systems. But the Jainas followed a tradition of Indian thought which took a hylozoistic view of nature that there is nothing formed even in the world of matter, nothing which exists in space and time and which does not represent some kind or form or type of jīva. And it is assumed that all of them are in the process of development or evolution in the physical structures, modes of generation, foods and drinks, deportments behaviours actions thoughts, ideas, knowledge, intelligence and the like So we need not be astonished that Jainism speaks of earth-lives, water-lives, fire-lives and wind-lives, each with its numerous subdivisions. The plants with their numerous sub-species stand above the material lives. From the plants we pass on to the animal world consisting of an infinite variety of species and from that to the world of men. Above and below man we are led to think of the celestial and infernal beings, the *devas* and *nairayikas*.

material beings, the earth-lives, water-lives, etc. as distinct forms of life, each appearing as an *individual with its internal cohesion* so long as it exists as such. So through the process of organic development or evolution we pass through the different degrees and forms of internal cohesion.

The story of conversion of the Brahman wanderer named Khandaka (Skandhaka) by Mahavira in the *Bhagavati Sūtra* (II. 1) is very interesting. The name of the wanderer sounds like the wanderer Sandaka in the Pali *Majjhima Nikāya* (Vol. I, p. 513). Like other Brahman wanderers Khandaka is said to have been well versed in the four Vedas the six Vedāṅgas, and the Itihāsa-purāṇa regarded as the fifth Veda Here the list also includes mathematics (*gaṇita*) and the *ṣaṣṭi-tantra* of the Sāṅkhya philosophy. The difficult austerities practised by the wanderer since his conversion to the Jain faith are in substance and detail like those described in the *Antagaḍadasāo* and *Ovavāia suttas* and in the Pali *Mahādukkhakhandha*[1] and *Mahāsihanāda suttas.*[2] The dialogue contained in this *uddesa* throws some light on the doctrine of infinity and finiteness, endlessness and limitedness discussed in the Pali *Brahmajāla sutta* (*Digha*, I.).

In the *Brahmajāla sutta* the Buddha refers to the four different propositions maintained by the contemporary and earlier recluses and Brāhmaṇas on four different grounds (Dīgha, I, pp. 22 ff.). These are: (1) that this world is limited and circumscribed (*antavā ayaṃ loko parivaṭumo*); (2) that this world is limitless and without an end (*ananto ayaṃ loko apariyanto*); (3) that it is both limited and unlimited (*antavā ca ayaṃ loko ananto ca*), meaning that the world is limited above and below and unlimited crosswise; (4) that it is neither limited nor unlimited. The explanation given by Buddhaghosa in his commentary, the *Sumaṅgalavilāsini*, is not very illuminating. As he suggests, the limited or unlimimited character of the world depends on the limited or unlimited view taken by the contemplative in his mental perception or vision (I. p. 115). Here we miss the philosophical aspect of the propositions. It appears

1. Majjhima N., I, pp. 83-90. 2. Ibid., I, pp. 68-83.

that the third proposition referred to the view upheld by Mahāvīra and his disciples. According to Mahāvīra the world may be construed in some respects as limited and in some respects as unlimited (*sa-ante loe anante loe*). Here he considers the position of the world from the four points of view, from the point of view of substance (*davvao*), from that of field of existence (*khettao*), from that of time (*kālao*) and from that of phenomena (bhāvao). It is maintained that considered from first two points of view the world is limited and considered from the remaining points of view it is unlimited (II 1). It may be observed that with regard to all contradictory views the *Bhagavatī Sūtra* assigns to Mahāvīra a kind of synthetic position seeking to justify both of them, each from its own point of view. This was undoubtedly consistent with the 'It may be' doctrine (*Syātvāda* of Jainism).

The Jaina ideas regarding the advent of different living beings in different states or forms of existence are on the whole the same as those in other Indian systems. The main difference lies only in some unimportant details. The Jainas too believe in the possibility of bodily advent without the help of any sex union. The Jaina belief, however, is a belief in the transmigration of soul a point in which it differs from the Buddhist conception of rebirth without any transmigration of soul from embodiment to embodiment. The soul in Jainism as in most of the Indian systems is the factor which polarizes the field of matter and brings about the organic combination of the elements of existence. If the position be that death means an event which takes place when the soul leaves the body, the question arises whether it passes off in some form of corporeality (*sasarīrī*) or without any such corporeality (*asarīrī*). Here too the traditional Jain position is, it may be that it goes out in some form of corporeality and it may equally be that it does so without any form of corporeality (*Siya sarīrī vakkamai, siya asarīrī vakkamai*). With reference to the gross body characterized as *audārika, vaikriya* and *āhāraka*, the soul goes out without any corporeality, while with reference to the subtle body characterized as *taijasa* and *kārmaṇa* (karmic), it departs in its subtle body (I 7). Deaths and destinies are broadly distinguished as those undergone by fools and those by the wise. The deaths on the part of fools that take place due to

different causes or under different circumstances serve to lengthen the course of gliding in the cycle of births and deaths and those on the part of the wise go to shorten it. This too is a common place in the popular Indian belief.

Attention may be drawn to another interesting point. The account given in our *sūtra* of the doctrinal position of Maṅkhaliputta Gosāla, the leader of the Ājīvika thought, seeks to make out this point of difference and distinction between Jainism and Ajīvikism. Gosāla's position is an unqualified fatalism or determinism, while Mahāvīra's position is not so, inasmuch as it distinctly leaves scope for freedom. According to Gosāla death signifies a suspended animation while periodical reanimation as in plant-life is the order of nature. The Jainas seem to construe that if we accept Gosāla's position, we cannot think of death as a phenomenon, but death in the case of all things formed or compounded is inevitable.

It is interesting to note that our *sūtra* (I. 76) speaks of a dispute between Kālāsavesiyaputta, a follower of Pārśva and a disciple of Mahāvīra. It ends with the former's begging permission to stay with him after having changed the law of the four vows for the law of the five vows enjoining compulsory confession. This is surely a supplement to the *Uttarādhyayana* dialogue between Kesin and Gautama as representatives of the two Nirgrantha orders, old and new. The date of Gosāla's death taking place sixteen years before Mahāvīra's death was coincident with the great war fought between king Kūṇiya (Ajātaśatru) and king Ceḍaga of Vaiśālī for the possession of an extraordinary elephant (Bhagavatī Sūtra, Āgamodaya-samiti edition, p. 316). On the death of Mahāvīra the confederacy nine Mallas and nine Licchavi clans and the kings of Kāśī and Kośala instituted a festival in honour of that event (*Ibid.*, p. 316). It may be remarked that the *Bhagavatī* like other Jaina canonical sūtras is unaware of the position of Kūṇiya as the king of Magadha. Kūṇiya is represented as the king, better viceroy of Aṅga, in his father's time. Aṅga was governed as a separate province under Kūṇiya with Campa as its capital (*Ibid.*, p. 316).

Udāyana of Sauvīradeśa was succeeded by his nephew Keśī in whose reign Vītahavya was completely ruined (*Ibid.*, p. 619). He